



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्-

# गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन

[ श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायोंकी  
विस्तृत व्याख्या ]



श्यामी रामसुखदास

५३३३३-गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

---

---

५३३३३ ५३३३३ ५३३३३ ५३३३३ ५३३३३ ५३३३३

मूल्य तीन रुपये

---

---

५३३३३ गीताप्रेस, गोरखपुर

## नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता धर्मसंवाद एवं श्रीभगवान्की दिव्य वाणी है। इसकी भाषा सरल एवं शैली सरस होते हुए भी विषय-वैशिष्ट्य गूढ है। अतः स्वाध्याय एवं पूर्ण मनोयोगसे मननके बिना सर्वशास्त्रमयी गीताका शास्त्रीय स्वरूप सुगम नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितिमें गीता-तत्त्वार्थको सुगमतासे अवगत करनेकी सुतराम् आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शनका बोधगम्य विवेचन गीता-तत्त्वार्थके मार्मिक मन्त्रा एवं भारत प्रसिद्ध व्याख्याता परम श्रेष्ठ स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने सरस एवं सरल भाषा-शैलीमें किया है। साधकापयोगी अमूल्य तत्त्वार्थका अन्वेषण और लोकमें उनका वितरण ही आपके जीवनका लोकसंग्रही ध्येय है। आप इसका ध्येय गीता मानाकी महती अनुकम्पा ही स्वामिभारत हैं।

आपकी प्रस्तुत पुस्तक अति उपादेय है। आशा है कि प्रेमी पाठक एवं साधकगण इसके अध्ययन, मनन एवं चिन्तनसे गीता-तत्त्वार्थको अवगत कर भगवत्परायणताकी उपलब्धि करेंगे।

॥ श्रीहरिः ॥

# विषय-सूची

श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें और ग्यारहवें अध्यायोंका मूल पाठ श—  
प्राकरण ..... च—३

## दसवाँ अध्याय

प्रधान विषय

श्लोक-संख्या

पृष्ठ

१-३ भगवानकी विभक्ति और योगका कथन तथा उनको जाननेकी महिमा ... १-२६

८-११ कल्मषिन भगवद्भक्ति और भगवत्कृपाका प्रभाव तथा योग ... २६-४४

१२-१८ अर्जुनद्वारा भगवानकी स्तुति और योग तथा विभक्तियोंको करनेके लिये प्रार्थना ... ४४-६०

१९-२६ भगवानके द्वारा अर्जुन की विभक्तियोंका और योगका वर्णन ... ६०-११४

अर्जुनके हृदयके लिये भगवानद्वारा पुनः महत्त्वपूर्ण वचन कहनेकी प्रार्थना

भगवानके महत्त्वका ज्ञानमें देवताओं और ... १-५

भगवानकी महिमा जाननेका काल ... ५-८

भगवानके लिये विभक्तियोंका वर्णन ( विभक्तियोंका कथन ) ... ८-१०

भगवानके लिये विभक्तियोंका कथन ... ११-१६

... १७-२०

- ७ विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका फल—अविचल भक्ति ... २०-२६  
( विशेष बात २२ )
- ८ भगवान्‌के प्रभावकी जानकर भजन करनेका वर्णन ... २६-३०  
( विशेष बात ३० )
- ९ भक्तोंके द्वारा होनेवाले भजनका प्रकार ... ३१-३७
- १०-११ कृपाके परवश हुए भगवान्‌द्वारा भक्तोंको बुद्धियोग देना और उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश करना ... ३७-४४  
( विशेष बात ४२ )
- १२-१५ अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति ... ४४-५०
- १६-१८ योग और विभूतियोंको विस्तारपूर्वक कहनेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना ... ५१-५९  
( स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न-सम्बन्धी विशेष बात ५५ )
- १९ अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार विभूतियोंको करनेके लिये भगवान्‌द्वारा स्वीकृति और उपक्रम ... ६०-६४
- २०-३९ भगवान्‌द्वारा अपनी बयासी विभूतियोंका कथन ... ६४-१०४  
( विशेष बात १०३ )
- ४० भगवान्‌द्वारा अपनी दिव्य विभूतियोंकी अनन्तता बताना ... १०४-१०७
- ४१ भगवान्‌द्वारा अपनी योगशक्तिका वर्णन ... १०७-११२  
( विशेष बात १११ )
- ४२ भगवान्‌द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को अपने एक अंशसे व्याप्त बताना ... ११२-११४
- दसवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उपाच ... ११५
- दसवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द ... ११६

ग्यारहवाँ अध्याय

| श्लोक-संख्या | प्रधान विषय   | पृष्ठ   |
|--------------|---|---------|
| १-८          | विराटरूप दिखानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना और भगवान्द्वारा अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदान करना ... | ११७-१३७ |
| ९-१४         | संजयद्वारा धृतराष्ट्रके प्रति विराटरूपका वर्णन  | १३७-१४५ |
| १५-३१        | अर्जुनद्वारा विराटरूपको देखना और उसकी स्तुति करना ... ..                                      | १४६-१८१ |
| ३२-३५        | भगवान्द्वारा अपने अत्युग्रविराटरूपका परिचय और सुरभी आज्ञा ... ..                              | १८१-१९६ |
| ३६-४६        | अर्जुनद्वारा विराटरूप भगवान्की स्तुति-प्रार्थना   | १९७-२२१ |
| ४७-५०        | भगवान्द्वारा विराटरूपके दर्शनकी दुर्लभता बताना और भयभीत अर्जुनको आश्वासन देना ...             | २२१-२३७ |
| ५१-५५        | भगवान्द्वारा चतुर्भुजरूपकी महत्ता और उसके दर्शनका उपाय बताना ... ..                           | २३७-२५३ |

गूढ़ विषय

|       |  |         |
|-------|--|---------|
| १-२   | अर्जुनद्वारा परमगौर्वाय अर्ध्यात्मतत्त्वकी महिमाका कथन ... ..  | ११७-१२१ |
| ३-४   | अर्जुनद्वारा विराटरूप-दर्शनके लिये विनम्र प्रार्थना            | १२१-१२६ |
| ५-७   | भगवान्द्वारा अर्जुनके विराटरूप देखनेकी आशा ( विशेष बात १३२ )   | १२७-१३३ |
| ८     | भगवान्द्वारा अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदान करना ( विशेष बात १३५ ) | १३३-१३७ |
| ९     | संजयद्वारा अर्जुनके विराटरूप दिखाये जानेका कथन                 | १३७-१३८ |
| १०-११ | विराटरूपकी दिव्यताका वर्णन ... ..                              | १३८-१४१ |

| श्लोक-संख्या | सूक्ष्म विषय  | पृष्ठ   |
|--------------|---|---------|
| १२           | विराटरूपके अतुलनीय प्रकाशका वर्णन ...   | १४१-१४३ |
| १३           | संज्ञयद्वारा भगवान्के शरीरके एक देशमें सम्पूर्ण<br>विराट् रूपका कथन ...                           | १४३-१४४ |
| १४           | अर्जुनकी दशाना वर्णन ...  | १४४-१४५ |
| १५           | अर्जुनद्वारा विराटरूपमें दिव्य त्रिलोकीका वर्णन ...<br>( विशेष बात १४७ )                          | १४६-१४९ |
| १६           | विराटरूप भगवान्के अनन्तअवयवोंका वर्णन ...   | १४९-१५१ |
| १७           | सभी दिव्य आयुधोंसहित विराटरूपके तेजसा वर्णन   | १५१-१५३ |
| १८           | विराटरूप भगवान्के समग्ररूपका वर्णन ...  | १५३-१५४ |
| १९-२०        | अनन्त, असीम और उग्र विराटरूपका वर्णन ...  | १५४-१६० |
| २१-२२        | महर्षियोंके द्वारा विराटरूप भगवान्की स्तुति करने और<br>देवता, यक्ष, असुर आदिके विस्मित होनेका कथन | १६०-१६३ |
| २३-२५        | विराटरूपके अत्युग्र स्वरको देखकर अर्जुनका<br>व्यथित होना ...                                      | १६३-१७० |
| २६-२९        | नदियों और पहाड़ोंके दृष्टान्तसे दोनों सेनाओंका<br>भगवान्के मुण्डोंमें प्रविष्ट होनेका वर्णन ...   | १७०-१७७ |
| ३०           | अत्युग्र विराटरूप भगवान्द्वारा जीभसे चाटते<br>हुए सबका प्रसन करनेका कथन ...                       | १७८-१७९ |
| ३१           | अर्जुनद्वारा अत्युग्र विराटरूप भगवान्से परिचय पूछना   | १७९-१८१ |
| ३२           | विराटरूप भगवान्द्वारा कालरूपसे अपना परिचय देना  | १८१-१८४ |
| ३३-३४        | भगवान्द्वारा अर्जुनको निमित्तमात्र - बनकर युद्ध<br>करनेकी आशा ...                                 | १८४-१९४ |
|              | ( विशेष बात १९० )   |         |



| क्र.संख्या | सूक्ष्म विषय  |             |
|------------|---|-------------|
|            | भगवान्की स्तुति करनेके लिये अर्जुनका तैयार होना                                       | १९५-१९६     |
| ३-३७       | विराटरूपकी महत्ताका कथन   | ... १९७-२०३ |
| ८-४०       | विराटरूपकी अनन्तरूपता और अनन्त सामर्थ्यका कथन   | ... २०३-२०७ |
| ४१-४२      | अर्जुनद्वारा अपने पूर्वकृत तिरस्कारके लिये भगवान्से क्षमा-प्रार्थना                   | ... २०७-२११ |
| ४३         | विराटरूप भगवान्के प्रभावका वर्णन  | .. २१२-२१३  |
| ४४         | अर्जुनद्वारा भगवान्से अपमान सहन करनेके लिये प्रार्थना                                 | ... २१३-२१६ |
|            | ( ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन २१५ )                                       |             |
| ४५-४६      | अर्जुनद्वारा भगवान्से चतुर्भुजरूप दिव्यानेके लिये प्रार्थना                           | ... २१६-२२१ |
| ४७-४९      | भगवान्द्वारा विराटरूप-दर्शनकी महिमा और दुर्लभता बताकर चतुर्भुजरूप देखनेकी आज्ञा       | ... २२१-२३४ |
|            | ( भगवान्द्वारा-साम्यन्धी विशेष बात २२४; संजय और अर्जुनकी दिव्यदृष्टि कबतक रही ? २३२ ) |             |
| ५०         | भगवान्द्वारा चतुर्भुजरूप दिखाकर सौम्य दिग्भुजरूप हो जाना                              | ... २३५-२३७ |
| ५१         | भगवान्का मानुषरूप देखकर अर्जुनका दम्भनिच हो जाना                                      | ... २३७-२३८ |
| ५२-५३      | चतुर्भुजरूपके दर्शनकी दुर्लभता  | ... २३९-२४४ |
| ५४         | अनन्तरभक्तिमें भगवान्की सुलभता  | ... २४४-२४८ |
|            | ( विशेष बात २४८ )   |             |
| ५५         | अनन्तरभक्तिमें गायन   | ... २४८-२५३ |
|            | ग्यारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उच्चार   | ... २५४     |
|            | ग्यारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द   | ... २५४     |



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

## अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।  
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥  
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।  
अहमादिहिं देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥  
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।  
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपार्षदः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥  
युद्धिर्जानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।  
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥  
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।  
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥  
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।  
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥  
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।  
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

[ अ ]

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।  
 इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥  
 मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।  
 कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥  
 तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।  
 ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥  
 तेषामेवानुक्रम्यार्थमहमज्ञानजं तमः ।  
 नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।  
 पुन्यं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥  
 आद्भुत्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्निरदस्तथा ।  
 अस्मिन्ने देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥  
 सर्वमेतद्यत्नं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।  
 न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥  
 न्ययमेवान्गनान्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।  
 भुवमानित भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥  
 वक्ष्युमस्त्वामेषां दिव्या त्वात्मविभूतयः ।  
 यागिभिर्भूतिभिर्कौशानिमांस्तवं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥  
 कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।  
 केतुं केतुं च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभृतिं च जनार्दन ।  
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभृतयः ।  
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥  
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।  
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥  
आदित्यानामहं विष्णुज्योतिषां रविरंशुमान् ।  
मरीचिर्मरुतामसि नक्षत्रागामहं शशी ॥२१॥  
चेदानां सामवेदोऽसि देवानामसि वासवः ।  
इन्द्रियाणां मनश्चाम्मि भूतानामसि चेतना ॥२२॥  
रुद्राणां शंकरश्चासि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।  
वसूनां पापकथासि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥  
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थः पृथहस्पतिम् ।  
सेनानोनामहं स्कन्दः सरसामसि सागरः ॥२४॥  
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्वेकमक्षरम् ।  
यज्ञानां जपयज्ञोऽसि व्यासरागां हिमालयः ॥२५॥  
अत्रत्यः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।  
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥  
उच्चैःश्रवसमथानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।  
शेरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनुनामस्मि कामधुक् ।  
 प्रजनश्चास्मि क्रन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥  
 अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।  
 पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥  
 प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।  
 मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥  
 पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।  
 क्षपाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥  
 नर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।  
 अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥  
 अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।  
 अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥  
 मृत्युः गर्वेहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।  
 कीर्तिः श्रौतैश्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥  
 शृङ्गनाम तथा नाम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।  
 मानानां मार्गशीर्षोऽहमृतनां कुमुमाकरः ॥३५॥  
 द्युतं छन्दयतामस्मि तेजस्तेजस्यिनामहम् ।  
 जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्यं सत्त्वयतामहम् ॥३६॥  
 वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।  
 मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥  
 दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।  
 भानं चैवास्मि गुणानां ज्ञानं ज्ञानयतामहम् ॥३८॥

यचापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।  
 न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥  
 नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।  
 एष नृदेशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥  
 यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।  
 तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभयम् ॥४१॥  
 अथवा बहुनूतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।  
 पिष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

ॐ तमसि नि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मसिद्धान्त-  
 योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो  
 नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

## अधैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।  
 यच्चयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥  
 भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।  
 त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥  
 एषमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।  
 द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमंशरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।  
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पद्म मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।  
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥  
पद्म्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।  
ब्रह्मन्यदृष्टपूर्वाणि पद्म्याश्वर्याणि भारत ॥ ६ ॥  
इहंकरथं जरात्कृन्तं पद्म्याद्य सचराचरम् ।  
सग देहे गुडाकेश यत्रान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥  
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।  
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पद्म मे योगसैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।  
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमेश्वरम् ॥ ९ ॥  
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।  
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेत्रेद्यतायुधम् ॥ १० ॥  
दिव्यमालयाम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।  
सदाशिवोत्तमं देवसन्तानं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥  
त्रिदिग्दर्शनं सर्वगतव्ययं भवेद्युगपदुत्थिता ।  
यदि मां नदर्शो सा स्वात्मानमस्य महात्मनः ॥ १२ ॥  
तत्रैकवक्त्रं जरात्कृन्तं प्रविभक्तमनेकधा ।  
अनेकवक्त्रदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।  
अणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभापत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे  
सर्वास्तथा भूतविशेषसंधान् ।  
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-  
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥  
अनेकबाहूदरयक्त्रगेत्रं  
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।  
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं  
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥  
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च  
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।  
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-  
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥  
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं  
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता  
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥  
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-  
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।



[ त ]

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं  
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि  
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्राद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं  
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति  
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

खर्त्वीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः  
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

न्द्रादिन्या वसवो ये च साध्या  
विज्वेऽश्विनो मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षान्मुरसिद्धसंघा  
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

न्यं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं  
महावाहो बहुवाहूरूपादम् ।

बहुदं बहुदंष्ट्राकरालं  
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं  
व्याचाननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरान्मा  
शुतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि  
 दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।  
 दिशो न जाने न लभे च शर्म  
 प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥  
 अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः  
 सर्वे महैवानिपालसंघैः ।  
 भीष्मो द्रोणः सुतपुत्रस्तथासौ  
 सहास्मदीर्यैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥  
 वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति  
 दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।  
 केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु  
 संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥  
 यथा नदीनां बहवोऽभ्युवेगाः  
 समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।  
 तथा तवामी नरलोकवीरा  
 विशन्ति वक्त्राप्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥  
 यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतद्वा  
 विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।  
 तथैव नाशाय विशन्ति लोका-  
 स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९॥  
 लेलिहसे ग्रसमानः समन्ता-  
 ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

[ ६ ]

तेजोभिरापूर्व जगत्समग्रं  
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो  
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं  
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥  
श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृतप्रवृद्धो  
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

शत्रुनेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे  
येऽवप्यिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

तस्मात्त्वमृत्तिष्ठ यशो लभस्व  
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैव ते निहताः पूर्वमेव  
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च  
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा  
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा बचनं केदवस्य

कृताञ्जलिर्येपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णः  
संगद्भद्रं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

ऽर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या  
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।  
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति  
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसद्भाः ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्  
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।  
अनन्त देवेश जगन्निवास  
त्वमक्षरं सदसत्परं यत् ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-  
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम  
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः  
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः  
ऽपुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ ऽष्टवस्ते  
नमोऽस्तु ते ऽसर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्व

सर्वं समाप्नोषि ततोऽ सर्वः ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजातता महिमानं तवेदं

मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यत्रावहासार्थमसत्कृतांऽसि

विहाग्याग्यान् उभोजनेषु ।

पङ्कांऽथवाप्यच्युत तन्ममक्षं

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वन्ममोऽस्त्यभ्यधिकः कृतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

तस्मान्प्रणम्य प्रणिधाय कायं

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हपितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देव रूपं

प्रसाद देवेय जगन्निवास ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त- । । । ।  
 मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।  
 तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन  
 सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं  
 रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।  
 तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं  
 यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनेन दाने-  
 न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।  
 एयरूपः शक्य अहं नृलोके  
 द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो  
 दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृशमेदम् ।  
 व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं  
 तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

सत्रय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा  
 म्रकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

[ फ ]

आश्वासयामास च भीतमेनं  
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।  
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम ।  
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥  
नाहं वेदेन तपसा न दानेन न चेज्यया ।  
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा ॥५३॥  
भक्त्या न्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।  
जानुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥  
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।  
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

ॐ नमोऽर्जुने श्रीनन्दमवर्तनासुपनिषदु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विद्यारूपदर्शनयोगो

नवमोऽध्यायः ॥ ११ ॥



॥ श्रीहरिः ॥

## प्राक्थन

### गीतामें विभूति-वर्णन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ-कहीं भी विभूतियोंका वर्णन हुआ है, वह साधकके अन्यमाधको हटानेके लिये ही हुआ है। 'से—सातवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्ने 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'मेरे सिवाय अन्य कोई कारण नहीं' ऐसा कहा, और उसके बाद आठवें-से बारहवें श्लोकतक अन्यका भाव दूर करनेके लिये कारण-रूपसे अपनी सत्रह विभूतियोंका वर्णन किया। नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि महान्मायोग अनन्य मनगले होकर मेरा भजन करते हैं। अन्यमें मन कब जाना है ? जब अन्यमें कुछ विशेषता, महत्ता, सत्ता दिगयी देती है। अन्य-(संसार-) में जो कुछ अश्रैकिकता, महत्ता, सत्ता दिखायी देती है, वह सब वास्तवमें भगवान्की ही है। यदि इस वास्तविकताको साधक समझ ले तो उसका मन अन्यमें जायगा ही नहीं और जहाँ-कहीं मन जायगा, यहाँ अन्य रहेगा ही नहीं। यह बात बतानेके लिये भगवान्ने नवें अध्यायके सोरहवें-से उन्नीसवें श्लोकतक कार्य-कारणरूपसे अपनी सैंतीस विभूतियोंका वर्णन किया।

दसवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा कि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदि हूँ। वे मेरेसे ही पैदा होते हैं और उनमें जो कुछ विद्या, बुद्धि, योग्यता आदिकी विशेषगता आयी है, वह सब मेरेसे ही आयी है। यह बतानेके लिये भगवान्ने



थे-पाँचवें श्लोकोंमें प्राणियोंके भावोंके रूपमें बीस विभूतियोंका  
 वृत्ते श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें पचीस विभूतियोंका वर्णन किया।  
 ब्रह्म श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि हे भगवन् ! मैं सदा चिन्तन  
 करते हुए आपको कैसे जानूँ और किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन  
 करूँ ? इसके उत्तरमें भगवान्ने बीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक अपनी  
 अस्मिन् विभूतियोंका वर्णन किया। इन विभूतियोंका वर्णन भगवान्-  
 ने तीन रूपोंसे किया—( १ ) मुख्यरूपसे, जैसे—वेदोंमें सामवेद  
 में हूँ ( १० । २२ ), ( २ ) अधिपतिरूपसे, जैसे—नक्षत्रोंका  
 अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ ( १० । २१ ) और ( ३ ) स्वरूपसे,  
 जैसे—अक्षय काष्ठ मैं हूँ ( १० । ३३ )। इन तीनों रूपोंसे वर्णन  
 करनेका तात्पर्य यही है कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी  
 स्वतन्त्र महत्ता और सत्ता नहीं है। जो कुछ महत्ता और सत्ता  
 दीवनी है, वह केवल भगवान्की ही है। अन्तमें उन्तालीसवेंसे  
 अस्मिन् श्लोकतक भगवान्ने साररूपसे अपनी विभूतियोंके  
 वर्णनकी बात कही।

पंद्रहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अकृतात्मानः' पद  
 भगवान्ने बताया कि जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वे मेरेव  
 नहीं बनते। संसारको महत्त्व देनेसे, उससे सम्बन्ध जोड़नेसे अन्त  
 करण शुद्ध होता है और भगवान्को महत्त्व देनेसे, उनसे सम्बन्ध  
 जोड़नेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। इस वास्ते भगवान्ने पंद्रह  
 अध्यायके अस्मिन् पंद्रहवें श्लोकतक प्रभावरूपसे अपनी ते  
 विभूतियों कही। इस तरह इन सभी अध्यायोंमें कुछ मिलाकर ०  
 की अस्मिन् विभूतियोंका वर्णन हुआ है।

## विभूति-वर्णनका उद्देश्य

मनुष्योंका प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे किसी यस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिकी विशेषता, महत्ता, प्रभाव, सुन्दरता आदिको देखकर उसीमें आकृष्ट हो जाते हैं। वास्तवमें संसारमें जो कुछ विशेषता आदि दिग्वायी देती है, वह संसारकी है ही नहीं। कारण कि जो संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, ऐसे क्षणभंगुर संसारकी विशेषता हो हो कैसे सकती है। उसमें जो कुछ विशेषता दीवती है, वह मूलमें संसारके आधार, आधार और प्रकाशक भगवान्-की ही है। परंतु भगवान्की तरफ दृष्टि न रहनेसे मनुष्य संसारमें ऊपरका भयका देखकर उस तरफ विचर जाता है। केवल ऊपरके भयको देखकर आकृष्ट हो जाना और उसके मूल कारणको न देखना पशुओंकी वृत्ति है, मनुष्यकी नहीं। मनुष्य विवेक-प्रधान प्राणी है। इस वास्ते उसको तात्कालिक दीखनेवाली संसारकी विशेषताको महत्त्व देकर उसमें आकृष्ट नहीं होना चाहिये। अगर मनुष्य विना विचार किये ही उसमें आकृष्ट हो जाना है, तो उसमें विवेक-विचारकी प्रवृत्ति ही कहाँ रही ! इस वास्ते मनुष्यको संसारकी मानी हुई महत्तासे अपना मन हटाकर भगवान्की बाल्मिक महत्तामें लगाना चाहिये। उसके अध्यायमें भगवान्के अर्जुनको निमित्त बनाकर सारवमात्रका मन अपनेमें आकृष्ट करनेके विषे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है।

दसवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी जिन मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन किया है, उन सबमें जो कुछ भी विशेषता देनेमें आती है, वह सब भगवान्को लेकर ही है। इस वास्ते संसारमें जहाँ-

वहाँ किञ्चिन्मात्र भी विशेषता दिखायी दे, उस विशेषताको लेकर साधकको स्वतः भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये । संसारकी विशेषताको माननेसे जहाँ संसारका चिन्तन होता है, वहाँ उस विशेषताको भगवान्‌की ही माननेसे वह चिन्तन भगवान्‌के चिन्तनमें परिणत हो जायगा अर्थात् वहाँ भगवान्‌का चिन्तन होने लगेगा । इस तरह ( अर्जुनके प्रश्नके अनुरूप ) अपना चिन्तन करवानेके लिये ही भगवान्‌ने अपनी विभूतियों कही हैं ।

साधकको चाहिये कि इसमें अध्यायमें जिन विभूतियोंका वर्णन हुआ है, उन विभूतियोंका महत्त्व देखते हुए उनका पठन-पठन, श्रवण-श्रवण न करें । ये विभूतियाँ किन कारणोंसे मुख्य हैं । उनमें क्या-क्या क्लृप्तता है ? इनके विषयमें कित्-कित् ग्रन्थमें प्रत्यक्ष विचार है ? इस तरह वृत्ति न लगाकर ऐसा विचार करें कि उनका मूल क्या है । ये कहाँसे प्रकट हुई हैं । इस तरह अपनी वृत्तियोंका प्रकट विभूतियोंकी तरफ न होकर उनके मूल कारणकी तरफ ही होना चाहिये । मनुष्यकी वृत्तियोंका प्रकट अपनी वृत्त करवानेके लिये ही भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन किया है - १० । २१ ; क्योंकि अर्जुनकी वही जिज्ञासा थी ( १० । १७ ) । इस कारण ही विभूतियाँ भगवान्‌का चिन्तन करनेके लिये ही हैं । इन विभूतियोंमें किञ्चिन्मात्र भी अर्थ न दीये, उनको जाने अथवा न जाने, फिर भी उनमें भगवान्‌का चिन्तन होना चाहिये । तात्पर्य है कि भगवान्‌ने उद्देश्य विभूतियोंका वर्णन करनेका नहीं है, बल्कि उनका चिन्तन करवानेका है । चिन्तन करवानेका उद्देश्य

६—साधक मेरेको तरबसे जान जाय और उसकी मेरेमें दृढ़ भक्ति हो जाय (१०।७)। इसी बातको लेकर अर्जुनके भीतर भगवान्की विभूतियोंको जाननेकी जिज्ञासा पैदा हुई।

### योग और विभूतिका अर्थ

दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें दो बार 'योग' शब्द आया है। इस 'योग' शब्दके दो अर्थ हैं—( १ ) भगवान्के प्रभाव-(सामर्थ्य-) का नाम योग है, जिससे सब विभूतियाँ प्रकट होती हैं और ( २ ) भगवान्के साथ जीवके नित्य अविच्छिन्न सम्बन्धका नाम योग है।

भगवान्के विद्वक्षण प्रभावसे अनन्त विभूतियाँ प्रकट होती हैं। जैसे, भगवान्ने कहा है कि 'जहाँ-दर'ों और जिन-फिन्नीमें जो कुछ ऐश्वर्य, सौन्दर्य और बड़ दीप्ति है, वह सब मेरे तेज-( प्रभाव- )के किसी एक अंशमें उपन्न हुआ मगजो' ( १०।११ )। इस तेजका नाम ही 'योग' है और इसी तेज-( योग- )से मंसारकी सम्पूर्ण विशेषताएँ प्रकट होती हैं तथा इन विशेषताओंकी ही 'विभूति' कहते हैं। इस तरह सभी विभूतियाँ भगवान्ने ही पैदा होती हैं और उनमें जो कुछ विशेषता दीगती है, वह सब भगवान्की ही है—ऐसा जनना ही विभूति और योगके तरबसे जानना है, जिसको जाननेमें मनुष्य अविच्छिन्न भक्तिमें युक्त हो जाना है ( ७।१० )।

भगवान्ने अपने योग-( सामर्थ्य-) से प्रकट होनेवाली विभूतियोंका जो वर्णन किया है, वह अपने शान्तिरिक्त योग ( सम्बन्ध-) की समृद्धि दगनेके दिने ही किया है।

## सच्चा ऐश्वर्य

मनुष्यके भीतर विलक्षणता देखनेकी जो इच्छा होती है, वह इच्छा वास्तवमें सच्चे ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य और औदार्यकी ही होती है । कारण कि संसारमें विलक्षणता, सुन्दरता आदि है ही नहीं । अगर संसारमें विलक्षणता आदि हो तो वह सदा रहनी चाहिये, पर वह सदा रहती नहीं; क्योंकि वह संसारकी है ही नहीं । उस वास्ते इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा नाशवान् संसारमें जो विलक्षणता दीवर्ती हैं, वह असत् हैं । असत्को महत्त्व देनेके कारण मनुष्य उसमें फँस जाता है ।

अमत् पदार्थोंसे हमारी कभी तृप्ति नहीं हुई, अभी भी नहीं हो रही है, आगे भी नहीं होगी और कभी भी होनी सम्भव नहीं है । कारण कि स्वयं ( स्वल्प ) सत् है और पूर्ण है । परन्तु असत् ( नामवान् ) कर्मोंको, पदार्थोंको, क्रियाओंको हमने जो महत्त्व दिया है, उतने सम्बन्ध जोड़ा है, उसीसे हमें स्वयंमें अपूर्णता महसूस होती है । असत्के साथ हम ज्यों-ज्यों अधिक सम्बन्ध जोड़ते हैं, ज्यों-ज्यों वह अपूर्णता बढ़ती चली जाती है । इस लिये मनुष्य जो इरी-संसारसे विमुक्त होकर जिस परमात्मासे स्वयंमें ही विलक्षणता दिव्यधी देती है, उसके सच्चे ऐश्वर्यमें आनन्द को नष्ट को सदाके लिये निहल हो जाय !

सच्चा ऐश्वर्य कभी है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसमें कभी क्लिष्टता भी कभी नहीं आती, प्रत्युत जो प्रतिक्षण अज्ञता ही रहती है और जिसमें कभी अज्ञान नहीं होती ।

प्राणिमात्रका यह अनुभव भी है कि अपने अमात्रका अनुभव किसीको भी नहीं होता और अपने अमात्रकी रुचि भी कभी नहीं होती। ऐसे ही यह प्राणी जिस परमात्माका अंश है, उस परमात्माके ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यसे अरुचि हो ही कैसे सकती है ?

### विभूतियोंकी दिव्यता

दसवें अध्यायमें अर्जुनने सोऽश्वे श्लोकमें और भगवान्ने उन्नीसवें तथा चातुस्रवें श्लोकमें इन विभूतियोंको 'दिव्य' कहा है। इसका कारण यह है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिमें जो कुछ विशेषता दिखायी देती है, वह वस्तुतः भगवान्की ही है। दिव्यातिदिव्य तो एक भगवान् ही हैं। इस वास्ते जिनकी भी विभूतियाँ हैं, वे सभी तत्त्वसे दिव्य हैं। परन्तु सायबके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब वह भोगबुद्धिका सर्पथा त्याग करके उन विभूतियोंमें केन्द्र भगवान्का ही चिन्तन करता है।

### शुद्धा-समाधान

शुद्धा—गीतामें भगवान्ने 'श्रीमत्' अर्थात् शोभा-( रूप- ) को अपनी विभूति बनाया है ( १० । ४१ )। संसारकी शोभा भगवान्की विभूति होनेसे उस शोभाको मनुष्य भोगने ल्या जाय तो क्या हानि है ? भगवान्ने रसको अपनी विभूति बनाया है। ( ७ । ८ ) तो मदिरा आदि महान् अपवित्र रस पीने ल्या जाय तो क्या हानि है ? भगवान्ने दूध-कीड़ा -( जूआ- ) को अपनी विभूति बनाया है

( १० । ३३ ) तो जूआ खेलनेमें क्या हानि है ? क्योंकि यह भगवान्‌का स्वस्व है । भगवान्‌ने सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको अपनी विभूति बताया है ( ७ । १२ ) तो तामस भावों, पदार्थों और क्रियाओंका सेवन करनेमें क्या हानि है ? तात्पर्य यह हुआ कि ये सभी भगवान्‌की विभूति होनेसे यदि मनुष्य इनका सेवन करे तो यह भगवान्‌की ही उपासना होनी चाहिये । इसमें कोई दोष या पाप कैसे लग सकता है ?

सनाधान—( १ ) एक आचरणमें लाना होता है, ( २ ) एक जानना होता है और ( ३ ) एक चिन्तन करना होता है । आचरणमें अपनेके किये कदा करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इस प्रकार अद्य-अद्य विधि-निश्चय होता है—‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं नैकार्याकार्यव्ययमिन्दो’ ( गीता १६ । २४ ) । विभूतियोंको अज्ञानमें अपनेके किये नहीं कदा गया है, प्रत्युत इनको अपने अपनेके किये कदा गया है कि ये कहाँसे प्रकट होती हैं ? उनका गुण क्या है ? तिस-दिली गुण, प्रभाव, शोभा आदिकी विशेषताको देखकर जहाँ-जहाँ मन चला जाय, वहाँ-वहाँ उस गुण, प्रभाव आदिकी विशेषताको भगवान्‌की ही विशेषता मानकर नमस्कार ही चिन्तन करे—इसके किये ही विभूतियोंके वर्णनका कारण है । कारण कि हममें अप्यायमें अर्जुनने दो ही बातें पूछी थी—‘अहं किं कुरुष्वे मया ?’ और ‘अहं किं कुरुष्वे मया ?’ ( १० । १७ ) ।

दोनों भावों का अर्थ भगवान्‌का अर्थ है, पर इनमें भूदसे असत-सत्त्व-रज-तामस, इनमें अहंकार का अर्थ मान लिया है । अगर यह संसारमें

दीवनेवात्री महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको परमात्माकी ही मानकर परमात्माका चिन्तन करेगा तो यह परमात्माकी तरफ जायगा अर्थात् इसका उद्धार हो जायगा ( गीता ८ । १४ ); और अगर महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको ससारकी मानकर ससारका चिन्तन करेगा तो यह ससारकी तरफ जायगा अर्थात् इसका पतन हो जायगा ( गीता २ । ६२-६३ )। इस रास्ते परमात्माका चिन्तन करते हुए परमात्माको तरफसे जाननेके उद्देश्यसे ही इन विभूतियोंका वर्णन किया गया है ।

### विश्वरूप-दर्शन

दसवें अध्यायमें विभूतियोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान् अर्जुनके विना पूछे ही अपनी तरफसे कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तेरेको बहुत जाननेसे क्या मतलब है ? मैं सम्पूर्ण जगत्को अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डको अपने किन्ती अंशमें व्यक्त करके स्थित हूँ ।' इसी बातको देखकर अर्जुनके मनमें विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई तो भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपने शरीरके विना अंगों महान् विशाल निराद्वय दिशा दिया ।\* इनका वर्णन ग्यारहवें अध्यायमें हुआ है ।

● श्रीमद्भागवतमें ज्ञान है कि एक बार करोड़ोंजीने कन्दैयाके छोटे-से मुत्रमें विश्वरूप देखा । इसका विचार मिय जब तो अत्यन्तछोटि ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्माण्ड है । इस ब्रह्माण्डमें भरतारण, भारतारण, भारतारण, माधुराण्डमें एक ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डमें एक जगत् छोटासा वर्णन मिला है । उ फर्कतको कर्मोश मता छोटी फेर



विश्वरूपमें सबसे पहले देवरूप आया, फिर उग्ररूप और उसके बाद अत्यन्त उग्ररूप आया। अत्यन्त उग्र विश्वरूपको देखकर अर्जुन भयभीत हो गये और पूछने लगे कि ऐसे अत्यन्त उग्ररूपवाले आप कौन हैं ? भगवान्ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। भयके साथ-साथ हर्षकी भी प्रधानता होनेसे अर्जुनने पहले भगवान्के अत्युग्ररूपकी स्तुति की और फिर चतुर्भुजरूप ( देवरूप ) दिखानेके लिये प्रार्थना की। अर्जुनको प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने प्रसन्न होकर अपना चतुर्भुजस्वरूप दिखाया और फिर सौम्य मानुषरूप-( द्विभुजरूप-) से लौ गये।

### विश्वरूपकी दिव्यता

भगवान्का विश्वरूप दिव्य है, अविनाशी है, अक्षय है। इस विश्वरूपमें अत्यन्त ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अनन्त हैं\*।

भगवान्के विश्वरूपमें कौन कौन कौन कौन ? दिव्या अस्त्रा सुभ्य । कन्दैः  
 विनाशकैः शूलैः शोषकैः दिव्याणां तेषु चमोटे-नेसुभ्यमें यशोदा मै  
 भगवान्के विश्वरूपमें अत्यन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अनन्त हैं\*।

\* संख्या चोद् रज्ज्वमिति विश्वानां न कदाचन ।

अतीत्युग्ररूपीनां तथा संख्या न विद्यते ॥

नित्य विष्णुरूपसे अनन्त विष्णु ( ब्रह्माण्ड ) उत्पन्न हो-शेकर उसीमें लीन होते रहते हैं, पर यह विष्णुरूप अव्यय होनेसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है । यह विश्वरूप इतना दिव्य अत्रौकिक है कि हजारों भौतिक सूर्योका प्रकाश भी इसके प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता ( ११ । १२ ) । इसलिये इस विष्णुरूपको 'दिव्यचक्षु'के बिना कोई भी देण नहीं सकता । 'ज्ञानचक्षु'के द्वारा संसारके मूलमें सत्तारूपसे जो परमान्तरूप है, उसका बोध होता है और 'भावचक्षु'से संसार भगवत्स्वरूप दीखता है, पर इन दोनों ही चक्षुओंसे विष्णुरूपका दर्शन नहीं होता, 'चर्मचक्षु'से न तो तरंगना बोध होना है, न संसार भगवत्स्वरूप दीखता है और न विश्वरूपका दर्शन ही होना है; क्योंकि चर्मचक्षु प्रकृतिका कार्य है । इस वाम्ते चर्मचक्षुसे प्रकृतिके स्थूल कार्यको ही देण जा सकता है ।

वाम्तावमें भगवान्के द्विभुज, चतुर्भुज, सदसभुज आदि जितने भी रूप हैं, वे सब-के-सब दिव्य और अव्यय हैं । इसी तरह भगवान्के सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार अदि जितने रूप हैं, वे सब-के-सब भी दिव्य और अव्यय हैं ।

माधुर्य-स्त्रीत्वमें तो भगवान् द्विभुजरूप ही रहते हैं; परन्तु जहाँ अपना कुछ ऐश्वर्य दिखानेकी आवश्यकता होती है, वहाँ भगवान् पात्र, अधिपति, भाग आदिके भेदमें अपना विराटरूप भी दिखा देने हैं । जैसे, भगवान्ने अर्जुनको मनुष्यरूपसे प्रकट हुए अपने द्विभुजरूप शरीरके किसी अंशमें विराटरूप दिगाया है ।

भगवान्में अनन्त-असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण हैं। उन अनन्त दिव्य गुणोंके सहित भगवान्का विश्वरूप है। भगवान् जिस-किसीको ऐसा विश्वरूप दिखाते हैं, उसे पहले दिव्यदृष्टि देते हैं। दिव्यदृष्टि देनेपर भी वह जैसा पात्र होता है, वैसी योग्यता और रुचिवाला होता है, उसीके अनुसार भगवान् उसको अपने विश्वरूपके न्तरीका दर्शन कराते हैं। यहाँ ग्यारहवें अध्यायके पन्द्रहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान् विश्वरूपसे अनेक न्तरीके प्रकट होते गये, जिनमें पहले देवरूपकी ( ११ । १५-१८ ), फिर उपरूपकी ( ११ । १९-२२ ) और उसके बाद अत्युपररूपकी ( ११ । २३-३० ) प्रधानता रही। अत्युपररूपको देखकर जब अर्जुन भयभीत हो गये तो भगवान्ने अपने दिव्यातिदिव्य विश्वरूपके न्तरीके दिव्यता बन्द कर दिया। अर्थात् अर्जुनके भयभीत होनेके कारण भगवान्ने अपने रूपोंके दर्शन नहीं कराये। तात्पर्य है कि भगवान्ने दिव्य विश्वरूपके अनन्त न्तरीकेसे उतने ही स्तर अर्जुनको दिखाये, जितने न्तरीके दिव्यताकी आवश्यकता थी और जितने स्तर दिव्यताके अर्जुनमें योग्यता थी।

भगवान्ने भिन्न-भिन्न रूपमें भूत, भविष्य और वर्तमान — ये तीनों ही रूप प्रकट किये अर्थात् उसमें उन तीनोंका भेद नहीं है। भेद तो अर्जुनके अन्तर्गत ही अर्जुनके मानने सुझका अन्तर था। इस वास्ते भगवान्ने अर्जुनको ही भविष्यकी बात दिवा दी अर्थात् अर्जुनकी उमर के बारे में बताया — इस उमरके अनुसार भविष्यकी बात

दिखा दी कि अगे ऐमा-ऐमा होगा और वह भी दिया कि जीन तुम्हारी होगी ( ११ । ३४ ) ।

### विश्वरूप-दर्शनकी प्रामाणिकता

वर्ष लोग ठीक न समझनेके कारण ऐमा कहते हैं कि भगवान्-ने अर्जुनको विश्वरूप दिगाया नहीं था, प्रत्युत यह सनज्ञा दिया था कि मेरे शरीरके किसी एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं । पर वास्तवमें यह बात ही नहीं । स्वयं भगवान्ने कहा है कि 'मेरे इस शरीरमें एक जगह चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देग ले' ( ११ । ७ ) । जब अर्जुनको दिखायी नहीं दिया तो भगवान्ने कहा कि 'तू अपने इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देग सजता, इस वास्ते मैं तेरेको दिव्यचक्षु देता हूँ' ( ११ । ८ ) । फिर भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु देकर साक्षात् अपना विश्वरूप दिगाया । मजबूत भी कहा है कि 'भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित विश्वरूपकी अर्जुनने देगा' ( ११ । १३ ) । अर्जुनने भी विश्वरूपका दर्शन करते हुए कहा कि 'मैं अपने शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंके समुदायोंके तथा द्रव्य, विष्णु, मांश आदि सबको देग रहा हूँ' ( ११ । २५ ) अदि-अदि । इनसे मित्त होता है कि भगवान्ने अर्जुनको प्रारम्भमें अपने विश्वरूपके दर्शन कराये थे । दूसरी बात, मनमानेके दिने तो जलचक्षु होते

हैं, पर दिव्यचक्षुसे साक्षात् दर्शन ही होते हैं। अतः भगवान्‌ने केवल कहकर समाप्ता दिया हो, ऐसी बात नहीं है।

### गीताकी विभूति और विश्वरूपदर्शन

मनुष्यके अन्तःकरणमें नाशवान् संसारके ऐश्वर्य और भोगोंकी महत्ता बैठी हुई है कि ये श्रेष्ठ हैं, सुखदायक हैं और हमारे लिये फलदायक हैं। रूपों आदिके बिना हमारा काम नहीं चलता, हम इनके ही आश्रित हैं। हम जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें ये ही काम आते हैं। इनके पासमें होनेसे ही हम बड़े होते हैं।—इस कारणसे रूपों आदि पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि होना महान् पतन करनेवाला है। इस महत्त्वबुद्धिको ही शास्त्रीय भाषामें गुणोंका सङ्ग कहते हैं, जो आसन्न ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म देनेका कारण है—  
 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' ( गीता १३ । २१ ) ।  
 अतः मनुष्य अवास्तविकतामें ( संसारमें ) महत्त्वबुद्धि न करके वास्तविकतामें ( भगवान्‌में ) महत्त्वबुद्धि करे—इसमें ही गीताकी विभूति और विश्वरूपदर्शनका तात्पर्य है।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

• श्री शंभुजीदेवमन्तरं

ज्ञानचक्षुषा ।

सुखानन्दमयं न मे विदुर्मानि ते परम् ॥

( गीता १३ । ३४ )

सर्वतोऽपि शक्तिर्भवेत्

सर्वदन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

सर्वतोऽपि शक्तिर्भवेत्

सर्वदन्त्यचेतसः ॥

( गीता १२ । ११ )



श्रीविष्णु



॥ ॐ श्रीरमात्मने नमः ॥

# गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन

[ श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें और ग्याहवें अध्यायोंकी  
विस्तृत व्याख्या ]

नागायणं नमस्कृत्य नरं त्रैव नरोत्तमम् ।  
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥  
चमुद्भवमुतं त्रैवं शंभुचाणूरमर्दनम् ।  
देवकीपद्मात्मनः कृष्णं चन्दे जगद्गुरुम् ॥

## अथ दशमोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीभगवान् सानधे अध्यायमें अपने हृदयकी घात—विज्ञानसहित  
ज्ञान कह रहे थे । जब बीचमें ही आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके  
प्रश्न परनेपर अपने घात—हृदयमें कुछ परिवर्तन हुआ तो भगवान्ने  
पुनः विज्ञानसहित ज्ञानसहित द्वितीय नवौं अध्याय आरम्भ किया और  
उसकी कथाके आरम्भमें ही । फिर भी भगवान्के मनमें  
और कहनेका भाव रहा । चन्दे अपने ज्ञानके मतों पर नहीं हुआ ।  
जैसे मध्य भगवान्ने भगवान्की घात मुनने हुए तृप्ति नहीं होगी



( गीता १० । १८ ), ऐसे ही अपने प्यारे भक्त अर्जुनके प्रति अपने हृदयकी बात कहते-कहते भगवान्को तृप्ति नहीं हो रही है । कारण कि भगवान्के हृदयकी गोपनीय बात भक्तके सिवाय संसारमें और कोई सुननेवाला नहीं है । इस वास्ते भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही कृपापूर्वक दसवाँ अध्याय आरम्भ कर देते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन ! मेरे परम वचनको तुम फिर सुनो, जिसे मैं तुम्हारी हितकामनासे कहूँगा; क्योंकि तुम मेरेमें अत्यन्त प्रेम रखते हो ।

व्याख्या—

‘भूयः एव’—भगवान्की विभूतियोंको तत्त्वसे जाननेपर भगवान्में भक्ति होती है, प्रेम होता है । इस वास्ते कृपावश होकर भगवान्ने सप्तम अध्यायमें ( ८वें श्लोकसे १२वें श्लोकतक ) कारणरूपसे सब विभूतियाँ और नव अध्यायमें ( १६वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक ) कर्ष-कारणरूपसे नैर्नास विभूतियाँ बतायीं । अब यहाँ और भी विभूतियाँ बतानेके लिये तथा ( गीता ८ । १४ एवं ९ । २२, २४ में कही हुई ) भक्तिका और भी विशेषतासे वर्णन करनेके लिये भगवान् ‘भूयः एव’ कहते हैं ।

\* इस ( दसवें ) अध्यायमें भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक कर्षों के वर्णनसे विभूतियाँ बतलाई हैं ।

‘शृणु मे परमं वचः’—भगवान्‌के मनमें अपनी महिमाकी बात, अपने हृदयकी बात, अपने प्रभावकी बात कहनेकी विशेष आ रही है\* । इस वास्ते वे अर्जुनसे कहते हैं कि ‘तू फिर मेरे परम वचनको सुन’ ।

दूसरा भाव यह है कि भगवान्‌ जहाँ-जहाँ अर्जुनको अपनी विशेष महत्ता, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि बताते हैं अर्थात् अपने-आपको खोल करके बताते हैं, वहाँ-वहाँ वे परम वचन, रहस्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं; जैसे—चीथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें ‘रहस्यं ह्येनदुत्तमम्’ पदोंसे बताते हैं कि जिसने सूर्यको उपदेश दिया है, वही मैं तेरे रूपके घोड़े होंप्रता हुआ तेरे सामने बैठा हूँ । अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें ‘शृणु मे परमं वचः’ पदोंसे कहते हैं कि तू सम्पूर्ण धर्मोंका निर्णय करनेकी शंभटको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर ( १८ । ६६ ) । यहाँ ‘शृणु मे परमं वचः’ पदोंसे भगवान्‌का आशय है कि प्राणिपोंके अनेक प्रकारके भाव मेरेसे ही पैदा होते हैं और मरेमें ही मक्तिभाव रखनेवाले सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सभी मेरे मनसे पैदा होते हैं । तात्पर्य यह है कि सब कुछ मैं ही हूँ ।

जैसे आगे तेरहवें अध्यायमें ज्ञानकी बात कहते हुए भी चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने फिर ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है, ऐसे ही मानवों और नवों अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानकी बात कहते हुए

\* भगवान्‌ कहते हैं कि मैं अपनी तरफमें उन भर्तार का करके उनको शान दे देता हूँ—‘तयामेषानुवाच्यार्पम्’ ( गीता १० । ११ ) ।

भी दसवें अध्यायके आरम्भमें फिर उसी विषयको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' कहा, और यहाँ ( दसवें अध्यायके आरम्भमें ) 'शृणु मे परमं वचः' कहा। इनका तात्पर्य है कि ज्ञानानामिं समग्रकी, विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है; अतः साधक वचनोंको सुन करके विचारपूर्वक तत्त्वको समझ लेता है। इस वास्ते वहाँ 'ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' कहा है। भक्तिमार्गमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है; अतः साधक वचनोंको सुन करके श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान लेता है। इस वास्ते वहाँ 'परमं वचः' कहा है।

'यत्कृतं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया'—सुननेवाला वचनमें श्रद्धा और प्रेम रखनेवाला हो, और वक्ताके भीतर सुननेवालेके प्रति कृपापूर्वक हित-भावना हो तो वक्ताके वचन, उसके द्वारा कहा हुआ विषय श्रोताके भीतर अशकलरूपसे जम जाता है। जमने श्रेयकी भगवान्में स्वतः रुचि पैदा हो जाती है, भक्ति हो जाती है, प्रेम हो जाता है।

यहाँ एक सवाल हो सकता है कि भगवान्ने गीतामें 'यत्कृतं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' कहा है, फिर यहाँ 'हितकाम्यया' शब्दमें स्वयं अपनेमें कामना क्यों रखते हैं ? इसका समाधान यह है कि कामनामें अपने लिये भोग, सुख-आराम आदि कामना ही 'हितकाम्य' है। दूसरोंके हितकी कामना 'कामना' है ही नहीं; दूसरोंके लिये अपना ही स्वयं हो और अपने कामनाके लिये दूसरोंके सुख प्राप्त है। इस वास्ते भगवान्

सबको धारण करनेके लिये अदर्शात्म्यसे बह्य रहें हैं कि जैसे मैं हितकी कामनासे बचना हूँ, ऐसे ही मनुष्यमात्रको चाहिये कि वह प्राणिमात्रके हितका कामनासे ही सबके साथ व्यवहार करे । इससे अपनी कामना मिट जायगी और ब्रह्मना मिटनेपर मेरी प्राप्ति सुगमनासे हो जायगी । प्राणिमात्रके हितकी कामना रखनेवालेको मेरे सगुण स्वस्वकी प्राप्ति भी हो जाती है—  
 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' (गीता १० । ४),  
 और निर्गुण स्वस्वकी प्राप्ति भी हो जाती है—'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं  
 ..... सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५ । २५) ।

सम्बन्ध—

परम बचनके लिये, जिसे मैं आग बट्टैगा, मेरे विषय पूरा-पूरा मतानेवाला अब कोई नहीं मिल सकता । इसका कारण क्या है ? इसे भगवान् अगल श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।  
 अहमादिर्दि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

अर्थ—

मेरे प्रकट होनेको न देवता जानती हैं और न महर्षि, क्योंकि मैं सब प्रकारके देवताओं और महर्षियोंका अर्थात् महाकरण हूँ ।

व्याख्या -

'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः'—यद्यपि देवताओंके शरीर, बुद्धि, लोका, स्थाणा आदि सब दिव्य हैं, तथापि वे मेरे

प्रकट होनेको नहीं जानते । तात्पर्य है कि मेरा जो विश्वरूपसे प्रकट होना है, मत्स्य, कच्छप आदि अवतार-रूपसे प्रकट होना , सृष्टिमें क्रिया, भाव और विभूतिरूपसे प्रकट होना , ऐसे मेरे प्रकट होनेके उद्देश्यको, लक्ष्यको, हेतुओंको देवता भी पूरा-पूरा नहीं जानते । मेरे प्रकट होनेको पूरा-पूरा जानना तो दूर रहा, उनको तो मेरे दर्शन भी बड़ी कठिनतासे होते हैं । इस वास्ते वे मेरे दर्शनके लिये हरदम लालायित रहते हैं ( गीता ११।५२ ) ।

ऐसे ही जिन महर्षियोंने अनेक ऋचाओंको, मन्त्रोंको, विद्याओंको, विलक्षण-विलक्षण शक्तियोंको प्रकट किया है, जो संसारसे ऊँचे उठे हुए हैं, जो दिव्य अनुभवसे युक्त हैं, जिनके दिग् बुद्ध करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महर्षिलोग भी मेरे प्रकट होनेको अर्थात् मेरे अवतारोंको, अनेक प्रकारकी लीलाओंको, मेरे महत्त्वको पूरा-पूरा नहीं जानते ।

यहाँ भगवान्ने देवता और महर्षि—इन दोनोंका नाम लिया है । इसमें ऐसा माट्टम देता है कि ऊँचे पदकी दृष्टिसे देवताका नाम और ज्ञानकी दृष्टिमें महर्षिका नाम लिया गया है । इन दोनोंका मेरे प्रकट होनेको न जाननेमें कारण यह है कि मैं देवताओं और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि हूँ—‘अहमादिहि देवानां महर्षीणां च सर्वदाः’ । उनमें जो कुछ बुद्धि है, शक्ति है, सामर्थ्य है, प्रज्ञा है, प्रणय है, महत्ता है, वह सब उन्होंने मेरेसे ही प्राप्त

किया है। अतः मेरेसे प्राप्त किये हुए प्रभाव, शक्ति, सामर्थ्य आदिसे वे मेरेको पूरा कैसे जान सकते हैं ? अर्थात् नहीं जान सकते। जैसे बालक जिस माँसे पैदा हुआ है, उस माँके विरहको और अपने शरीरके पैदा होनेको नहीं जानता, ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे ही प्रकट हुए हैं; अतः वे मेरे प्रकट होनेको अपने कारणको नहीं जानते। कार्य अपने कारणमें लीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता। ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे उपन्न होनेसे, मेरा कार्य होनेसे कारणरूप मेरेको नहीं जान सकते, प्रयुक्त मेरेमें लीन हो सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि देवता और महर्षि भगवान्‌के आदिको, अन्तको और वर्तमानकी इयत्ताको अर्थात् भगवान् ऐसे ही हैं, इतने ही अन्तर लेते हैं—इस मापनीयको नहीं जान सकते। कारण कि इन देवताओं और महर्षियोंके प्रकट होनेसे पहले भी भगवान् ज्योत्स्नियों ही थे और उनके लीन होनेपर भी भगवान् ज्योत्स्नियों ही रहेंगे। अतः जिनके शरीरोंका अग्नि और अन्न होता रहता है, वे देवता और महर्षि अनादि-अन्तको अर्थात् अमीन परमात्मको अपनी सीमित बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा कैसे जन सकते हैं ? अमीनको अन्ना सीमित बुद्धिके अन्तर्गत कैसे ला सकते हैं ? अर्थात् नहीं ला सकते।

इसी अन्वयके चतुर्दशमें श्लोकमें अर्जुनने भी भगवान्‌से कहा है कि अन्तको देवता और दानव नहीं जानते, क्योंकि देवताओंके पान भोग-मानसीकी और दानवोंके पान मांस-शक्तिकी अधिस्ता है।

तत्पर्य है कि भोगोंमें लगे रहनेसे देवताओंको ( मेरेको जाननेके लिये ) समय ही नहीं मिलता, और भाया-शक्तिसे छल-कपट करनेसे दानव मेरेको जान ही नहीं सकते ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें कहा गया कि देवता और महर्षिलोग भी भगवान्‌के प्रकट होनेको इच्छा नहीं जान सकते, तो फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे जानेगा और उसका कल्याण कैसे होगा ? इसका उदाहरण अगले श्लोकमें बताया है ।

श्लोक—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

अज्ञम्मूढः स मत्संपु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—

जो मनुष्य मेरेको अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकोंका महारक्षक जानक है अर्थात् दृढ़तासे मानता है, वह मनुष्योंमें अज्ञम्मूढ ( जन्मकार ) है और वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

व्याख्या—

'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्'—पिछले श्लोकमें भगवान्‌के प्रकट होनेको जाननेका विषय बताया है । इस विषयमें जो मनुष्य भी दृढ़तासे मानता, या जितना जाननेसे मनुष्य अपने-आपको जान सके, उतना ही वह जान ही सकता है । वह मनुष्य अज्ञम्मूढ अर्थात् जन्मरहित

हैं। वे अनादि हैं अर्थात् यह जो कष्ट रहा जाता है, जिसमें आदि-अनादि शब्दोंका प्रयोग होता है, भाग्य उम कष्टके भी कष्ट है। उन कष्टयुक्त भगवान्के कष्टका भी अदि और अन्त हो जाता है। भगवान् न-पूर्व के भाग्य ईश्वर हैं अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पत-रत्न के निर्देशी हैं तथा उम त्रिगैरीमें जितने प्रणी हैं उन प्राणियों जन्म करनेवाले (जन्म-भय अभिरार-प्रय) जिते ईश्वर (मार्तिक) हैं, उन मनु ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर भगवान् हैं। इस प्रकार जाननेसे अर्थात् श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृष्टान्ते मननेसे मनुष्यको भाग्यके अन्त, अग्निनाशी और लोकमहेश्वर होनेमें कभी किश्चिन्मत्र भी मन्देह नहीं होता।

‘असम्मूढः स मर्त्येषु मर्यादाः प्रमुच्यते—’ भाग्यके अन्त, अग्निनाशी और लोकमहेश्वर जाननेसे मनुष्य पदोंमें मुक्त बने होगा। भगवान् जन्मरहित हैं, नश्वररहित हैं अर्थात् उनमें कभी किश्चिन्मत्र भी परिवर्तन नहीं होता। वे अजन्मा तथा अग्निनाशी रहते हुए ही सबके भाग्य ईश्वर हैं। वे नव देशमें रहनेके नाते पदों भी हैं, मनु मनुष्यमें होनेके नाते उर्ध्व भी हैं, मरने होनेके नाते मेरे भी हैं, और मरनेके नाते होनेके नाते मेरे अन्तरेके भी मार्तिक हैं—इस प्रकार जाननेसे मनुष्य है। इसमें मन्देहकी मनुष्य भी न रहे। माय-हो-न्याय, वह वे श्रद्धाभंगु मनुष्य हैं, जिसका प्रतिश्रद्धा परिवर्तन हो रहा है और जिसको जिस भगवें जिस रूपमें देगा है, उमको दूसरे भगवें उम रूपमें दुबारा कोई भी देना



नहीं सकता; क्योंकि वह दूसरे क्षण वैसा रहता ही नहीं—इस प्रकार संसारको यथार्थरूपसे जान ले। जिसने अपनेसहित सारे संसारके मायिक भगवान्को दृढ़तासे मान लिया है और संसारकी क्षण-भङ्गुरताको तत्त्वसे ठीक जान लिया है, उसका संसारमें 'मैं' और 'मेरा' भ्रम रह ही नहीं सकता, प्रत्युत एकमात्र भगवान्में ही अनापन हो जाता है। तो फिर वह पापोंसे मुक्त नहीं होगा, तो और क्या होगा? ऐसा मूढ़तारहित मनुष्य ही भगवान्को तत्त्वसे अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर जानता है और वही सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उसके क्रियमाण, संचित आदि सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यको इस वास्तविकताके अनुभव करनेकी आवश्यकता है, केवल तोतेकी तरह सीखनेकी नहीं। तोतेकी तरह सीखा हुआ ज्ञान पूरा काम नहीं देता।

असम्भूढ़ता क्या है? संसार ( शरीर ) किसीके भी साथ कभी रह नहीं सकता तथा कोई भी संसारके साथ कभी रह नहीं सकता और परमाणु किसीसे भी कभी अलग हो नहीं सकते और कोई भी परमाणुसे कभी अलग हो नहीं सकता—यह वास्तविकता है। इन वास्तविकताके न जानना ही असम्भूढ़ता है, और इसको यथार्थ जानना ही असम्भूढ़ता है। यह असम्भूढ़ता जिसमें रहती है, वह मनुष्य असम्भूढ़ कहा जाता है। ऐसा असम्भूढ़ पुरुष मेरे सगुण-निर्गुण, सार्व-व्यापक-व्यक्तके तत्त्वसे जान लेता है, तो उसे मेरी शक्ति, शक्त्य, प्रभाव, ऐश्वर्य आदिमें किसीन्मात्र भी संदेह नहीं रहता।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान् ने यह कहा कि जो मेरेको लोकमहंस्वर जानता है, यह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। अब उस लोकमहेश्वरके प्रभावका वर्णन करनेके लिये अगले तीन श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भयोऽभायो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।

भयन्ति भाया भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अर्थ—

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भय, अभय, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके और अत्र-अत्र बीस भाग मेरेसे ही होने हैं।

व्याख्या—

‘बुद्धिः’—उद्देश्यको लेकर निश्चय करनेवाली शक्तिका नाम ‘बुद्धि’ है।

‘ज्ञानम्’—सार-असार, प्राज्ञ-अप्राज्ञ, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, उचित-अनुचित, वर्तमान-अवर्तमान—ऐसा जो विवेक अर्थात् अत्र-अत्रा जानकारी है, उसका नाम ‘ज्ञान’ है। यह ज्ञान (विवेक) मानवजातिके भगवान् से निःशुद्ध है।

'असम्मोहः'—शरीर और संसारको उत्पत्ति-विनाशशील जानते हुए भी उनमें भ्रम और भ्रमोत्पन्न करनेका नाम सम्मोह है, और इसके न होनेका नाम 'असम्मोह' है।

'अज्ञा'—कहाँ हमारै प्रति कितना ही बड़ा अपराध करे, अपनी नमस्कार्य करने हुए भी उसे सब लेना और उस अपराधीको अपनी तथा ईश्वरकी तरफसे, यहाँ और परलोकमें कहीं भी दण्ड न मिले—ऐसा विचार करनेका नाम 'अज्ञा' है।

'सन्ध्यम'—नवस्वरूप परमात्माकी प्राणिके लिये सन्ध्यभाषण करना अर्थात् जेम्हा सुना, देना और समझा है, उसीके अनुसार अपने कार्य और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये न ज्यादा, न कम—सैम्हा-का-सैम्हा कर देनेका नाम 'सन्ध्य' है।

'दमः शमः'—शुभानुप्राणिका उद्वेग्य रहने हुए इन्द्रियोंको अपने-अपने चित्तमें लटकाकर अपने चर्चने करनेका नाम 'दम्भ' है, और शम है संसारिक भोगोंके चित्तमें लटकानेका नाम 'शम' है।

'सुखं दुःखम्'—शरीर, मन, इन्द्रियोंके अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो अप्रसन्नता होती है, उसका नाम 'सुख' है और प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो अप्रसन्नता होती है, उसका नाम 'दुःख' है।

'अभेदभावः'—संसारिक धन, व्यक्ति, वस्त्र, परिस्थिति, भय, आदिके उद्वेग होनेका नाम 'भय' है और उन सबके लीन होनेका नाम 'अभेद' है।

'भयं च अभयम एव च'—अपने अचरण, भाव आदि शब्द और लोकमर्यादाके विरुद्ध होनेसे अन्तःकरणमें अपना अनिष्ट होनेकी जो एक अशक्ता होती है, उससे 'भय' करते हैं। मनुष्यके अचरण, भाव आदि अष्टे हैं, पर किसीसे फट नहीं पहुँचता, शय्य और सुन्नोके विरुद्धतासे फिर कोई अचरण नहीं करता, तो उसके हृदयमें अपना अनिष्ट होनेकी अशक्ता नहीं रहती अर्थात् उसको किसीमें भय नहीं होता। इसीसे 'अभय' करते हैं।

'अहिम्ना'—अपने मन, मन, शरीरमें किसी भी देव, फल, परिस्थिति आदिमें किसी भी प्राणीसे विद्विग्नाप्र भी दुःख न देनेका नाम 'अहिम्ना' है।

'समता'—सह-सहयोगी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें प्राय होनेपर भी अपने अन्तःकरणमें कोई विद्विग्ना न देनेका नाम 'समता' है।

'नाष्टि' — अन्तःकरणमें कदा रहनेपर भी काम मित्रे तो उसमें सततपण करना तथा और मित्रे—ऐसी दृष्टिको न करना 'नाष्टि' है। तत्पर्य है कि मिले अथवा न मिले, काम मित्रे अथवा अन्तःकरण में आदि हर क्षणमें प्रसन्न रहना 'नाष्टि' है।

'तपः'—अपने कर्तव्यका पालन करने पर जो कुछ फल आ जाय, प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, उन सबसे प्रसन्नपूर्वक सहनेका नाम 'तपः' है। एतदर्थी मन आदिका नाम भी ता है।

'दानम्'—प्रयुक्त और फलही विद्विग्नाप्र भी दृष्टा न

लेकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी कमाईका हिस्सा सत्पात्रको देनेका नाम 'दान' है ।

'यशोऽयशः'—मनुष्यके अच्छे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर संसारमें जो नामकी प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि होते हैं, उनका नाम 'यश' है । मनुष्यके बुरे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर संसारमें जो नामकी निन्दा होती है, उसको 'अयश' (अपयश) कहते हैं ।

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'—प्राणियोंके भी पृथक्-पृथक् और अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उन सबको सत्ता, स्फूर्ति, शक्ति, आधार और प्रकाश मुझ-देवकी-द्वारा ही मिलता है । तात्पर्य है कि तत्त्वसे सबके मूलमें मैं ही हूँ ।

यहाँ 'मत्तः' पदसे भगवान्की योग, सामर्थ्य, प्रभाव और श्रेष्ठताका पदसे अनेक प्रकारकी अलग-अलग विभूतियाँ जाननी चाहियं ।

संसारमें जो कुछ विहित हो रहा है, निषिद्ध हो रहा है; उभ हो रहा है, अष्टुम हो रहा है; और संसारमें जितने सद्भाव-कारक दुर्भाव हैं, वह सब-की-सब भगवान्की लोल है—इस प्रकार भक्त भगवान्को तत्त्वसे समझ लेता है तो उसका भगवान्में 'सामर्थ्य' (अधिपत्य) योग हो जाता है (गीता १० । ७) ।

• इत्यर्थात् यदानं दीयतेऽनुनकारिणे ।

देने वाले च पात्रे च तदानं नास्विकं स्मृतम् ॥

( गीता १७ । २० )

यहाँ प्राणियोंके जो बीस भाव बनाये गये हैं, उनमें चारह भाव तो एक-एक हैं और वे सभी अन्तःकरणमें उद्भूत होनेवाले हैं; और भयके साथ आया हुआ अभय भी अन्तःकरणमें पैदा होनेवाला भाव है तथा बचे हुए सात भाव परस्परविरुद्ध हैं। उनमेंसे भय ( उत्पत्ति ), अभय, परा और अपरा—ये चार तो प्राणियोंके पूर्वजन्म कर्मोंके फल हैं और सुख, दुःख तथा भय—ये तीन मूर्खताके फल हैं। इस मूर्खताको मनुष्य नियंत्रित करता है।

यहाँ प्राणियोंके बीस भावोंको अपनेसे पैदा हुए और अपनी विभूति बतानेमें भगवान्का तात्पर्य है कि इन सबके मूलमें मैं ही हूँ, ये सभी मेरेसे ही होने हैं और मेरेसे ही सत्ता-स्कृति पाते हैं। सातवें अध्यायके चारहवें श्लोकमें भी भगवान्ने 'मत्तः पयः' पदोंसे बताया है कि सात्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उनके मूलमें मैं ही हूँ, वे मेरेसे ही होने हैं और मेरेसे ही सत्ता-स्कृति पाते हैं।

अब इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें इसको जाननेका फल बताते हैं कि जो इसको तरफसे जानता है, उसकी मरेमें दृढ़ भक्ति हो जाती है। अतः यहाँ भी भगवान्का आशय सात्विकी दृष्टि विभूतियोंके मूल तत्त्वकी तरफ बतानेमें ही है।

### विशेष बात

सात्विक संसारको पीने देगे ? पीने देगे कि संसारमें जो कुछ क्रिया, पदार्थ, घटना आदि है, वह सब भगवान्का रूप है। पदे

उपनि हो, चाहे प्रकृत हो, चाहे अनुकूलता हो, चाहे प्रा  
 कृत हो, चाहे अमृत हो, चाहे शत्रु हो, चाहे स्वर्ग ह  
 चाहे नरक हो, वह सब भगवान् की लीला है । भगवान् की लीला  
 में अद्वयता भी है, अशोकता भी है, अरुण्यकाण्ड भी है और  
 लंकाकाण्ड भी है । पुरियोंमें देगा जाय तो अशोक्यापुरीमें भगवान् का  
 प्रसन्न है, राजा, रानी और प्रजाका वास्तव्यभाव है । जनकपुरीमें  
 राजा जनक, महारानी सुनयना और प्रजाके राजाके प्रति विलक्षण-  
 मित्रभाव भाव है । वे राजाकी वात्सल्यभावने मिलते हैं, खेलते  
 हैं, शिकार करते हैं । उनमें ( अरण्यकाण्डमें ) भक्तोंका मिलना भी  
 है और राजाका मित्रता भी । लंकापुरीमें युद्ध होता है, मार-काट  
 होती है, मृतकी नदिया बहती हैं । इस तरह अलग-अलग पुरियोंमें  
 अलग-अलग वाण्योंमें भगवान् की तरह-तरहकी लीला होती है । परन्तु  
 लंकापुरीकी लीला होने हुए भी रामायण एक है, और वे सभी  
 लीलाएँ एक ही रामायणके अङ्ग हैं, तथा इन अङ्गोंसे रामायण सङ्गोपाङ्ग  
 है । ऐसे ही मंसार में प्राणियोंके तरह-तरहके भाव हैं, क्रियाएँ  
 । कहींपर कोई हो रहा है तो कहींपर कोई हो रहा है, कहींपर  
 प्रयोग हो रहा है तो कहींपर आत्ममें उड़ाई हो रही है, कोई  
 हो रहा है तो कोई हो रहा है आदि-आदि जो विविध भौतिकी  
 प्रयोग हो रही हैं, वह सब भगवान् की लीला है । वे लीला करनेवाले  
 भगवान् के रूप हैं । इस प्रकार भगवान् की अष्ट हरदम भगवान् पर  
 रक्षणी चाहिये, क्योंकि इन सबके मूलमें एक परमात्मनस्त्व

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकोमें भगवान् प्राणियों नाश-रूपमें ही विभूतिमें बनायी । अब अगले श्लोकोमें व्यक्ति-रूपमें परात्त विभूति बना रह है, जो कि प्राणियों विशेष प्रभावशाली और जगत्के कारण है ।

श्लोक—

महर्षय सत पूर्वं चत्वारो मनसस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाना येषां लोक इमं प्रजा ॥ ६ ॥

अर्थ—

सत महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होने वाले चार सतकादि तथा चन्द्र मनु—ये सत्य-सन्मत्तर गुरु मनमें पदा दृष्ट हैं और मेरेमें भाव ( धन-आदि ) रखनेवाले हैं, जिनकी कि समझमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ।

ध्याव्या—

'महर्षयः सत'—ये शरीर आयुवाले, मन्त्रादि प्रकृत धर्मवाले, ऐश्वर्यान्, दिव्य, दृष्टिवाले, गुण, विद्या आदिसे युक्त, धर्मका साक्षात् करनेवाले, और गौत्रोंके प्रवर्तक हैं—ऐसे नातों गुरुओंमें युक्त शक्ति सतदि कहें जाते हैं\* । नरीचि, अज्ञेय, अग्नि, पुत्रव्य, पुत्रद, वसु और रक्षित—य सत्ता शक्ति मत्त एव गुणोंमें युक्त हैं । य मत्तों ही वेदवेदा हैं, वेदोंके आचार्य मने मय हैं, प्रवृत्ति-आका मचन्द्र

\* मत्तौ मत्तिस्यैव गुणै मत्तैव मत्त ॥

दीपंजरो मत्तवत्त ईश्वरा दिव्यवभुष ।

वृद्धाः प्रवृत्तमत्तौ मत्तवत्तैव मत्त ॥

( वायुपुराण ६१ । १३-१४ )



करनेवाले हैं और प्रजापतिके कार्यमें नियुक्त किये गये हैं\* । इन्हीं सप्त ऋषियोंको यहाँ 'महर्षि' कहा गया है ।

'पूर्व चत्वारः'—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—

ये चारों ही ब्रह्माजीके तर करनेपर सबसे पहले प्रकट हुए हैं । ये चारों भगवत्स्वरूप हैं । सबसे पहले प्रकट होनेपर भी ये चारों सदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकरूपमें ही रहते हैं । ये तीनों लोकमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका प्रचार करते हुए घूमते रहते हैं । इनकी वाणीसे सदा 'हरिः शरणम्' का उच्चारण होता रहता है । ये भगवत्कथाके बहुत प्रेमी हैं । इस वास्ते इन चारोंमेंसे एक कथा और तीन श्रोता बनकर भगवत्कथा करते और सुनते रहते हैं ।

'मनवस्तथा'—ब्रह्माजीके एक दिन ( कल्प- ) में चौदह मनु होने हैं । ब्रह्माजीके वर्तमान कल्पके स्वायम्भुव, स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रिक्त, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, अर्भसावर्णि, अद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि नामवाले चौदह

० सर्वानिगदिगधत्विः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

कण्विः इति मनैने मानसा निर्मिता हि ते ॥

एते वेदविदो मुन्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।

प्रहृष्यन्निर्गन्तव्यं प्रवृत्तये च कल्पिताः ॥

( महा० शान्ति० २४७ । ६९-७० )  
+ इति मरणमेवं हि नियं देवां सुखे वचः ।

( पद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्य २ । ४८ )

। ये सभी ब्रह्माजीकी आज्ञासे सृष्टिके उत्पादक और

—नाममा जाता:—मात्र सृष्टि भगवान्के संकल्पसे पैदा होनी  
 —तु यहाँ ममर्षि आदिको भगवान्के मनसे पैदा हुआ पड़ा  
 —का कारण यह है कि सृष्टिका विस्तार करनेवाले होनेमें  
 —इनकी प्रधानता है । इस वारते यहाँ इनका नाम त्रिया  
 —। दूसरा कारण यह है कि ये सभी ब्रह्माजीके मनसे अर्थात्  
 —पैदा हुए हैं । स्वयं भगवान् ही सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्मा-रूप-  
 —ट हुए हैं । इस वारते सत महर्षि, चार सनकादि और  
 —मनु—इन पचीसोंको ब्रह्माजीके मानस पुत्र कहे अथवा  
 —के मानस पुत्र कहे, एक ही बात है ।

‘ब्रह्मायाः’—ये सभी मेरेमें ही भाव—श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले हैं ।

—‘येषां लोकमिमाः प्रजाः’—संसारमें दो तरहकी प्रजा  
 —ने-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली और शब्दसे ( दीक्षा,  
 —आदिसे ) उत्पन्न होनेवाली । संयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा  
 —ना कहलाती है और शब्दसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा ‘आदजा’

( भीमद्वागारतके आठवें स्कंधके पदके पाँचवें और तेरहवें  
 —में इनका विस्तारसे वर्णन आया है । )

ब्रह्माजीका एक दिन एक हजार चतुस्रुंशीका होता है । उसमें  
 —तुषा राग्य इन्द्रका चतुस्रुंशीमें कुछ ज्यादा समयका माना गया  
 —त समय ब्रह्माजीकी आज्ञासे इन्द्रका चतुस्रुंशीका रूप बत रहा है, और  
 —ठाठवें मनु ‘शैब्यता’ का राग्य बत रहा है ।

कर्मों से । विन्दुज प्रजा पुत्र-पम्पसने और नादज प्रजा शिष्य-पम्पसने चर्चती है ।

सत्कर्मि उन्हीं प्रजा 'नादज' है । निवृत्तिपरायण होनेवाले जितने सत्कर्मि पुत्र पक्षे हुए हैं, उन्हीं हैं और आगे होंगे, वे सब उन्हीं प्रजा उन्हीं ही 'नादज' प्रजा हैं ।

सम्बन्ध—

योगसे छोटे श्लोकनक प्राणियोंके भावों तथा व्यक्तियोंके रूपमें आती विभूतियों का और अपने योग-प्रभावका वर्णन करके अब भगवान् अगले श्लोकमें उनका तत्त्वसे जाननेका फल बताये हैं ।

श्लोक—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।  
 नोद्द्विकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अर्थ—

जो सम्पूर्ण भी इस विभूतिको और योगको तत्त्वसे जान लेता, मन्त्र है, वह अद्विकम्पेन भक्तियोगमें युक्त हो जाता है; इस युक्त में संशय नहीं है ।

व्याख्या—

'एतां विभूतिं योगं च मम'—'एताम्' सर्वनाम अयम्

हमारे ही योग नाम आता है, वह 'पुत्र-संयमने' शक्तियों व  
 रूपों में ही है सम्पूर्ण योगों में मम भगवान् ही करते हैं । ऐसे  
 ममत्व ही प्राणियोंके प्राणियोंके अन्तर्गत उनका संयमन करना  
 ममत्व ही ही एक शक्तियोंके प्राणियोंके संयमन करता है, इस

नजदीकका लक्ष्य प्रकृत है। यहाँ यह शब्द चौथेमे छठे श्लोकतक  
 यही दृष्टि विभूति और योगका लक्ष्य प्रकृत है।

'विभूति' नाम भगवान्‌के ऐश्वर्यका है और 'योग' नाम  
 भगवान्‌की आध्यात्मिक शिक्षागत शक्ति, अनन्त मनोव्यवस्था है। तत्पर्य  
 यह हुआ कि भगवान्‌की शक्तिका नाम 'योग' है और उक्त योगमे  
 प्रकट होनेवाले विशेषतःओका नाम 'विभूति' है। अतः छठे  
 श्लोकतक यही दृष्टि भाव और व्यक्तिके रूपमें जिनकी विभूतिना है,  
 वे तो भगवान्‌के तनार्थसे, प्रभावमे प्रकट दृष्टि विशेषतःए है, और  
 'मेरेसे पैदा होने हैं' ( 'मत्तः' 'मानसा जाता.' )—यह भगवान्‌का  
 योग है, प्रभाव है। इसीसे नये अध्यायके पाँचवें श्लोकमें  
 'पश्य मे योगमैश्वरम्' ( मेरे इस ईश्वरीय योगको देख ) पदोंमे  
 कहा गया है\* । ऐसे ही आगे गाग्रहवै अध्यायके आठवें श्लोकमें

भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डोका तथा उनमे अव्यय अन्वय निपुण विद्वि ह्युह  
 समगजोका भी संयमन करते हैं। इस संयमन करनेकी शक्तिका नाम ही  
 यहाँ योग है, सामर्थ्य है, प्रभाव है और यह योग गम्यम्, प्रभाव केवल  
 भगवान्‌के ही होता है। ऐसा योग जीवन्मुक्त महापुरुषोंमे और योगिदोंमे  
 भी नया होता, तो फिर सामान्य जीवनि ता दो ही कैसे सकता है ? यह  
 तो केवल भगवान्‌के ही है।

● मया तानिदं सर्वं जगदम्बुजवर्तिना ।  
 मलयानि शान्भूतानि न च हं श्वरहित ॥  
 न च मरुतानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।  
 भूतवृत्त च भूतानो ममाग्ना भूतभावन ॥

( गीता १ । ४५ )

— मैं सगारमे हूँ और सगार मेरेमे है, तथा मैं संसारमे नहीं हूँ  
 और सगार मेरेमे नहीं है अर्थात् सगारस्वरूपे केवल मैं ही हूँ, मैं ही  
 ईश्वरीय योगी देख ।

अर्जुनको विश्वरूप दिखाने समय भगवान्ने अपना ऐश्वर्यमय योग-दलनेके लिये कहा है—‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ ।

### विशेष बात

जब मनुष्य भोग-बुद्धिसे भोग भोगता है, भोगोंसे सुख लेता है तो अपनी शक्तिका हास और भोग्य वस्तुका विनाश होता है । इस प्रकार दोनों तरहसे हानि होती है । परन्तु जब वह भोगोंको भोगबुद्धिसे नहीं भोगता अर्थात् उसके भीतर भोग भोगनेकी किञ्चिन्मात्र भी लालसा उत्पन्न नहीं होती, तो उसकी शक्तिका हास नहीं होता । उसकी शक्ति, सामर्थ्य निरन्तर बनी रहती है ।

सन्तसमें भोगोंके भोगनेमें सुख नहीं है । सुख है—भोगोंके संगममें । यह संयम दो तरहका होता है—( १ ) दूसरोंपर शासनरूप संयम और ( २ ) अपनेपर शासनरूप संयम । दूसरोंपर शासनरूप संयमका तात्पर्य है—दूसरोंका दुःख मिट जाय और वे सुखी हो जायें—इस भावसे दूसरोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लाना । अपने शासनरूप संयमका तात्पर्य है—अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग करना और स्वयं किञ्चिन्मात्र भी सुख न भोगना । इनहीं दोनों संयमोंका नाम ‘योग’ अथवा प्रभाव है । ऐसा योग अपना प्रभाव सर्वोपरि परमात्मामें ही पूर्णरूपसे होता है । दूसरोंमें आंतरिकरूपसे ही होता है ।

स्वार्थ और अभिमानपूर्वक दूसरोंपर शासन करनेसे, अपना दुःख बचानेसे दूसरा बरामें हो जाता है तो शासन करनेवालेको एक दुःख होता है । इस सुखमें शासककी शक्ति, सामर्थ्य क्षीण हो जाती

हैं; और जिसपर यह शासन करता है, वह पराधीन हो जाता है। इसलिये स्वार्थ और अभिमानपूर्वक दूसरोंपर शासन करनेकी अपेक्षा स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग करके 'दूसरोंका हित हो, प्राणी नष्टर भोगोंमें न फँसे, प्राणी अनादिकालसे अनन्त दुःखोंको भोगने आवे हैं; अतः वे सराके लिये इन दुःखोंसे छुटकर महान् आनन्दको प्राप्त हो जायँ'—ऐसी बुद्धिसे दूसरोंपर शासन करना बहुत श्रेष्ठ और निष्कल शासन (संयम) है। इस शासनकी आगिरी हृद है—भगवान्का शासन अर्थात् संयमन। इसीका नाम 'योग' है।

'यो वेत्ति तत्त्वतः'—विभूति और योगको तरफसे जाननेका तात्पर्य है कि संसारमें कारणरूपसे मेरा जो कुछ प्रभाव, समर्थ्य है, और उससे कार्यरूपमें प्रकट होनेवाली जितनी विरोधताएँ हैं अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो कुछ विरोधता दीगनेमें आती है, प्राणियोंके अन्तःकरणमें प्रकट होनेवाले जितने भाव हैं और प्रभावशाली व्यक्तियोंमें ज्ञान-दृष्टिसे, विवेक-दृष्टिसे तथा संसारकी उत्पत्ति और संचालनकी दृष्टिसे जो कुछ निष्कलता है, उन सबके मूलमें मैं ही हूँ और मैं ही सबका आदि हूँ। इस प्रकार जो मेरेको मनन लेता है, तत्पर्यसे ठीक मान लेता है, तो फिर यह उन सब निष्कलताओंके मूलमें फेरके मेरेको ही देना है। उसका भाव फेरके मेरेमें ही होता है, व्यक्तियों, वस्तुओंकी विरोधताओंमें नहीं। जैसे, सुनारकी गहनोंपर दृष्टि जाती है तो गहनोंके नाम, आकृति, उत्पत्तिपर दृष्टि रहते हुए भी भीतर यह भाव रहता है कि तत्पर्यसे यह सब सेना ही है। ऐसे ही जहाँ-कहाँ जो कुछ भी विरोधता दीगने, उसमें दृष्टि

भगवान् ही जानी चाहिये कि उसमें जो कुछ विशेषता है, वह भगवान् ही है, वस्तु, व्याप्त, क्रिया आदिकी नहीं ।

संसारमें क्रिया और पदार्थ निरन्तर परिवर्तनशील हैं । इनमें जो कोई विशेषता दीवनी है, वह स्थायीरूपसे व्यापक परमात्माकी ही है । पदार्थों-वस्तुओं विलक्षणता, अलौकिकता आदि ठीके, वहाँ-वहाँ वस्तु, पदार्थ आदिकों की विलक्षणता माननेसे मनुष्य उसीमें उलझ जाता है और मिथ्या कुछ नहीं । कारण कि वस्तुओंमें जो विलक्षणता दीवनी है, वह उन अस्थिर-परिवर्तनशील परमाणु-तत्त्वों की ही झलक है, परिवर्तनशील वस्तुओं की नहीं । इस प्रकार उस मूल तत्त्वकी तरफ ही जाननी है उसे तत्त्वसे जानना—मानना है ।

यहाँ जो विभूतियोंका वर्णन किया गया है, इसका तात्पर्य इनमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्माके ऐश्वर्यसे है । विभूतियोंके रूपमें प्रकट होनेवाले ऐश्वर्यभाव परमात्माका है । वह ऐश्वर्य प्रकट हुआ है परमात्माकी योगशक्तिसे । समस्त जित्त-किसीमें जहाँ-वहाँ विलक्षणता दिखती है, वह विलक्षणता भगवान् की योगशक्तिसे प्रकट हुए ऐश्वर्य-विभूतियोंकी ही है, न कि उन वस्तुओंकी । इस प्रकार योग और विभूति परमात्माकी है, तथा उन योग और विभूतियों तत्त्वसे जाननी है, तब ही पता चला कि उनमें वैलक्षण्य परमात्माका है । अतः भगवान् की ही तरफ उस परमात्माकी तरफ ही जाननी चाहिये । यहाँ इनके वर्णनसे जानना अर्थही मानना है । \*

\* अर्थात् प्रकट होनेसे यहाँ भगवान् के लिये । तत्त्वतः जानना )  
 का अर्थ भगवान् से जानना ही जानना चाहिये । कारण कि यहाँ भगवान् ही





मेरेको तत्त्वसे जान लेनेके बाद उसके सामने लौकिक दृष्टिसे  
 कर्मों तरफकी विलक्षणता आ जाय, तो वह उसपर प्रभाव नहीं  
 डाल सकेगी। उसकी दृष्टि उस विलक्षणताकी तरफ न जाकर  
 मेरी तरफ ही जायगी। इस वास्ते उसकी मेरेमें स्वाभाविक ही दृढ़  
 भक्ति होती है।

सम्यन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि मेरी विभूति और योगको  
 तत्त्वमें जाननेवाला अविचल भक्तिसे युक्त हो जाता है। अतः  
 विभूति और योगको तत्त्वसे जानना क्या है? इसका विवेचन  
 अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

एति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अर्थ—

मैं संसारके प्रभव अर्थात् मूल कारण हूँ, और मेरेसे ही  
 सब संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चला कर रहा है—ऐसा  
 मेरे ही मन्वय मेरेमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा  
 ही भजन करते हैं—सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं।

भाव्या—

[ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ] अत ही इस श्लोकमें कही है।  
 'अहं सर्वस्य प्रभवः' में 'सर्वस्य' भगवान्की विभूति है अर्थात्  
 ईश्वर, मुझमें, सबमें जो कुछ आ रहा है, वह सब-कुछ-सब

भगवान्की विभूति ही है। 'मत्तः सर्वे प्रयतन्ते' में 'मत्तः' भगवान्का योग है, प्रभार है, जिससे सभी विभूतियाँ प्रकट होती हैं। 'सतरे, आठवें और नवें अध्यायमें जो कुछ कहा गया है, यह सत्य-सत्य इस श्लोकके पूर्वार्धमें आ गया है। ]

'अहं सर्वस्य प्रभवः'—मानस, नादज, विन्दुज, उद्भिज, जरायुज, अण्डज, स्वेदज अर्थात् जड़-चेतन, स्थार-जड़म यान्मात्र जिन्ने प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी उत्पत्तिके मूलमें परमपिता 'परमेश्वरके रूपमें मैं ही हूँ\* ।

यहाँ 'प्रभव' का तापर्य है कि मैं सबका 'अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण' हूँ अर्थात् स्वयं मैं ही सृष्टिरूपसे प्रकट हुआ हूँ ।

'मत्तः सर्वे प्रयतन्ते'—संसारमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रथ्य, पलन, संरक्षण आदि जिनकी भी चेष्टारें होती हैं, जिन्ने भी कार्य होते हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं। मूलमें उनको सत्-शक्ति जगदि जो कुछ मित्रा है, यह सब मेरेसे ही मित्रा है। जैसे मित्रकी शक्तिमें सब कार्य होने हैं, ऐसे ही संसारमें जिनकी क्रियारें होती हैं, उन सबका मूल कारण मैं ही हूँ ।

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वे प्रयतन्ते'—इहनेका तापर्य है कि सागवकी दृष्टि प्राणिमन्त्रके भाव, आचरण, प्रिया अदि-

० जैसे सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने अपनेको अन्तरा और परा प्रकृतिका कारण बताया है और चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें अपनेको शीघ्र प्रदान करनेवाला बताया है, वैसे ही यहाँ भगवान्ने अपनेको सबका उत्पादक बताया है ।

की तरफ न जाकर इन सबके मूलमें स्थित भगवान्की तरफ ही जानी जाय। कार्य, कारण, भाव, क्रिया, वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मूलमें जो तत्त्व है, उसकी तरफ ही भक्तोंकी दृष्टि करनी चाहिये।

सन्तो अथर्वके सप्तवें तथा वारहवें श्लोकमें और दसवें अथर्वके पंचवें और षष्ठ ( अष्टवें ) श्लोकमें 'मत्तः' पद बार-बार यजुर्वेदके मन्त्रों में आता है। ये भाव, क्रिया, व्यक्तियाँ आदि सब भगवान्में ही पैदा होने हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं और भगवान्में ही योग हो जाते हैं। इन बातों तत्त्वसे सब कुछ भगवान्में ही है—जब जानको जान लें अथवा मान लें तो भगवान्में ही सब उपनिषद् ( कर्म विचारित न किया जानेवाला ) योग अर्थात् भगवान् ही लक्ष्य।

संज्ञा 'सर्वान्य' और 'सर्वम्'—दो बार 'सर्व' पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्के नियंत्रण इस सृष्टिका न कोई उत्पादक है और न कोई संचालक है। इस सृष्टिके उत्पादक और संचालक दोनों भगवान् ही हैं।

[ ४० ]

श्लोक ८ ] गीताकी विभूति और चिदरूप-दर्शन

हो जाते हैं। इस प्रकार जब उनकी मूर्त्तयुद्धि कैवल्य हो जाती है, तो फिर उनका अकारण, श्रद्धा, विधान, सब भावनामें ही ही जाते हैं। भगवान् का ही उनमें शक्त, निरिच्छा, निःशेषता, निश्चिन्ता, निर्मल्य-स्वाभाविक ही आ जाते हैं। कर्मों कि (परमात्मा) होते हैं, यों देवी-मूर्त्तित स्वाभाविक जन्म है।

'युधाः'—भगवान् के सिद्ध जब ही गता ही भगवान् को ही उनके मूर्त्त में मानना, भगवान् का ही उनमें ही श्रद्धा-योग रूप—यही उनकी युद्धि-मूर्त्त है। उनकी युद्धिमान कदा मय है। इसी बातसे अनेक पदों पर है कि जो मेरे ही शक्त ममात्मनः । मेरे अतीत (योग-मा- ) में उत्तम जनक है, वह सर्वोत्तम है और मेरा ही भजन परत है\* ।

'माम् भजन्ते'—भगवान् के नामका उद-यतीत भगवान् के रूपका चिन्तन-श्रद्धा परमा, भगवान् की कर्म भगवान् मन्त्रों सन्तोष गीत, समाज, मन्त्रात्मा (पद) पठन परमा—दे गद-केन्द्र न ही । परन्तु उनकी भज

\* यमा-शक्त मात्मा-मन्त्रात्मा, वाचन ।  
अपत्तिमा लक्ष्मी देव मात्मा युद्धि-मूर्त्त ॥  
सो म भेदमनाम्भुती शक्ति युद्धि-मूर्त्त ।

है, जिसमें हृदय भगवान्की तरफ ही बिंच जाता है, केवल भगवान् ही प्यारे लगते हैं, भगवान्की विस्मृति चुभती है, बुरी लगती है। इस प्रकार भगवान्में तल्लीन होना ही असली भजन है।

### विशेष बात

सबके मूळमें परमात्मा हैं और परमात्मासे ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, बटना आदि सबको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है—ऐसा ज्ञान होना परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले सभी साधकोंके लिये बहुत आवश्यक है। कारण कि जब सबके मूळमें परमात्मा ही हैं, तो साधकका लक्ष्य भी परमात्माकी तरफ ही होना चाहिये। उस परमात्माकी तरफ लक्ष्य करनेमें ही सम्पूर्ण विभूतियों और योगके ज्ञानका तात्पर्य है। यही बात गीतामें जगह-जगह बतायी गयी है; जैसे—जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माके अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा पूजन करना चाहिये (१८।४६); जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान है और जो सब प्राणियोंको प्रेरणा देता है, उन परमात्माकी सर्वभावसे शरण चाहिये (१८।६१-६२); इत्यादि।

सर्वायोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये साधन तो अपनी-अपनी शक्तियों अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर उपर्युक्त ज्ञान सभी साधकोंके लिये बहुत ही आवश्यक है।

सम्बन्ध—

जब जगह-जगहमें उन भक्तोंका भजन किस रीतिसे होता है—यह बताते हैं।

श्लोक—

मषित्ता मद्रतप्राणा योधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां निन्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च\* ॥ ९ ॥

अर्थ—

मेरेमें चित्तवाले, मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जानते हुए और उनका कथन करते हुए ही निय-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें प्रेम करते हैं ।

व्याख्या—

[ भगवान्से ही सब उफ्न हुए हैं और भगवान्से ही सयकी चेष्टा हो रही है अर्थात् सबके मूलमें परमाना है—यह बात जिनको दृढ़तासे और निःसन्देहपूर्वक जँच गयी है, उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पना बाकी नहीं रहता । वस, ठनका एक ही काम रहता है—सब प्रकारसे भगवान्में ही लगे रहना । यही बात इस श्लोकमें बतायी गयी है । ]

‘मषित्ताः’—वे मेरेमें चित्तवाले हैं । एव मयंक भगवान्में स्थाना होता है, और एक चित्तको भगवान्में लगाना होता है । जहाँ ‘में भगवान्का हूँ’ ऐसे मयं भगवान्में ला जाता है, यहाँ

● इस श्लोकमें छः शब्द हैं । उनमेंसे ‘मषित्ताः’ और ‘मद्रतप्राणाः’—ये दो शब्द स्वयं करनेकी है अर्थात् भक्त स्वयं स्वप्नपूर्वक ऐसे बन जाते हैं, ‘योधयन्तः’ और ‘कथयन्तः’—ये दो शब्द आपसमें निश्चर होने हैं; तथा ‘तुष्यन्ति’ और ‘रमन्ति’—ये दो शब्द करनेके लगे हैं ।

चिन्. बुद्धि आदि सब स्वतः भगवान्में लग जाते हैं । कारण कर्ता स्व. के लगनेपर कारण ( मन, बुद्धि आदि ) अलग हो ही नहीं सके भाग जायेंगे । कारणोंके लगनेपर तो कर्ता अलग नसकता है, पर कर्ताके लगनेपर कारण अलग नहीं रह सकते । कर्ता कर्ता रहता, वही कारण भी रहेंगे । कारण कि कारण तो कर्ता ही अर्थात् होते हैं । कर्ता उनको जहाँ लगाना चाहे वे वहाँ लगते हैं । जैसे, कोई मनुष्य परमान्नप्राप्तिके लिये सच्चे हृदय से भक्त्युक्त बन जाता है, तो माधनमें उसका मन स्वतः लगता है । उसका मन न उसके निवृत्त अन्य किसी कार्यमें नहीं लगता, और जिस कार्य में जाता है, वह कार्य भगवान्का ही होता है । कारण कि कर्ताके विगीत मन-बुद्धि आदि नहीं जाते, नहीं रहते । प्रकृत स्वयं भगवान्में नहीं लगता, प्रत्युत मैं तो भगवान्के भगवान्में लगाना चाहता है, उसका चित्त भगवान्में निरन्तर लगे रहता है । कारण कि स्वयं तो संसारी बना रहे और भगवान्के भगवान्में लगाना चाहते, तो भगवान्में चित्त लगाना असम्भव-

... चित्त वहीं लगता है, जहाँ प्रियता होती है ।  
 ... आत्मीयता होती है ।  
 ... मन्त्रन्व जोड़नेसे ।  
 ... शरीर-संसार  
 ... इस कारण है, इस कारण वे गेरे

प्रति चहे जैसा धर्माय या विमल कर सकते हैं। पन्तु मेरा प्रभुपर कोई अधिकार नहीं है अर्थात् वे भरे हैं तो मैं जन्मा च दूँ, वे वेसा ही करें—ऐसा कोई अधिकार नहीं है—इस प्रकार जो स्वयंको भगवन्का मन लेता है, अपने-अपने भगवन्को अर्पित कर देता है, उसका चित्त स्वतः भगवन्में ली जात है। ऐसे भक्तों ही यहाँ 'मच्चित्ताः' कहा गया है।

यहाँ 'मच्चित्ताः' पदमें चित्तके अन्तर्गत ही मन है अर्थात् स्नेहृति अलग नहीं है। गीतामें चित्त और मनको एक भी कहा है और अज्ञ-अज्ञ भी। जैसे 'भूमिगणोऽनयो वायुः स मनो मुक्तिरेव च' (७।८) - यहाँ मनके अन्तर्गत ही चित्त है, और 'मनः संयम्य मच्चित्तः' (६।१४) - यहाँ मन और चित्त अज्ञ-अज्ञ हैं। पन्तु इस श्लोकमें अब 'मच्चित्ताः' पदमें मन और चित्त एक ही हैं, दो नहीं।

'मद्गतवाणाः'—उनके प्राण मेरे ही अधि हो गये हैं। प्राणोंमें दो प्रण हैं—जीवा और चेष्टा। उन भक्तोंका मन भी मेरे चित्त ही है, और शरीरकी सम्पूर्ण चेष्टा (क्रिया) भी मेरे चित्त ही है। शरीरकी जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन्में प्राणोंकी ही सुश्रुता होती है। इस वस्त्रे उन भक्तोंकी पर, अनुष्ठान आदि शारीर, भजन-ध्यान, कर्म-धर्मजन आदि भक्त-सम्बन्धी, सामर्थ्य-आदि शारीरिक, शैली, स्वर आदि जीविक-सम्बन्धी, मेरा आदि नाना-आदि-आदि जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवन्के चित्त ही होती हैं। उन्की क्रियाओंमें क्रियभेद तो होता है, पर उद्देश्यभेद नहीं



होता । उनकी मात्र क्रियाएँ एक भगवान्‌के उद्देश्यसे ही होती हैं । हम करते वे 'भगवद्भूतप्राणाः' होते हैं ।

जैसे गोपिकाओंने 'गोपीगीत'में भगवान्‌से कहा है कि हमने अपने प्राणोंको आपमें अर्पण कर दिया है—'त्वयि भृतासवः' ( श्रीमद्भा० १० । ३१ । १ ), ऐसे ही भक्तोंके प्राण केवल भगवान्‌में रहते हैं । उनका जितना भगवान्‌से अपनापन है, उतना प्राणोंमें नहीं । हर एक प्राणोंमें 'किसी भी अवस्थामें मेरे प्राण न हूँ' इस तरह जीनेकी श्रुति रहती है । यह प्राणोंका मोह है, स्नेह है । परन्तु भगवान्‌के भक्तोंका प्राणोंमें मोह नहीं रहता । उनमें 'हम जीते' यह श्रुति नहीं होती, और मरनेका भय भी नहीं होता । उनको न जीनेमें मतद्वय रहता है और न मरनेसे । उनको तो केवल भगवान्‌से मतद्वय रहता है । कारण कि वे इस बातको अच्छी तरहसे जान जाते हैं कि मरनेमें तो प्राणोंका ही वियोग होता है । भगवान्‌में तो कभी वियोग होता ही नहीं । प्राणोंके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, पर भगवान्‌के साथ हमारा स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है । प्राण प्रकृतिके कार्य हैं और हम स्वयं भगवान्‌के कार्य हैं ।

हमारा कोई मतत्रय नहीं है। हमारा मतत्रय तो केवल भगवान्‌में है। ऐसा दृढ़ उद्देश्य बननेवा साथक 'भगवद्गतप्राण' हो जायगा।

'बोधयन्तः परस्परम्'—उन भक्तोंको भगवद्भावसे, भगवद्-विद्यासे मित्र जाने हैं तो उनके बीच भगवान्‌की बात छिड़ जाती है। फिर वे आपसमें एक-एकको भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि जनाते हैं तो एक-दूसरेमें सम्मेलन होता है\*। जब वे आपसमें भावपूर्वक बातें करने हैं, तो उनके भीतर भगवन्‌सम्बन्धी विच्छिन्न-विच्छिन्न बातें स्वतः आने लगती हैं। जैसे दीपक तले अँधेरा रहता है, पर दो दीपक एक-दूसरेके सामने रख दें तो दोनों दीपकोंके तलेका अँधेरा दूर हो जाता है। ऐसे ही जब दो भगवद्भक्त एक-साथ मिलते हैं और आपसमें भगवन्‌सम्बन्धी बातें चर्चा पढ़ती हैं, तब किसीके मनमें किसी तरहका भगवन्‌सम्बन्धी विच्छिन्न भाव पैदा होता है तो वह उसे प्रकट कर देता है, तथा दूसरेके मनमें और तरहका भाव पैदा होता है तो वह भी उसे प्रकट कर देता है। इस प्रकार अज्ञान-प्रदान होनेसे उनमें नये-नये

- गणमय सरभवा निगमो यदर्थवार्त्तभूतिवेत्तामपि ।  
 प्रतिज्ञाननन्दरदन्तुतल्यवत्स्विदा विदामाभिर गणु वार्त्ता ॥

( भौमज्ञा० १० । १२ । २ )

'गणमय सरभवा' धरणा करनेवाले पुरुषोंका यह सम्भव होता है कि उनका धर्म, ध्यान और अन्तःकरण भगवान्‌की स्मृति-श्रीको गाने, सुनने और विचार करनेके लिए ही होते हैं। जैसे लम्बे पुरुषोंकी गिरीची पक्षमें नयान्न मांस देता है, ऐसे ही भक्तोंकी भगवान्‌की स्मृति-श्रीके, वरुणमें निच नयान्न मांस देता है ।

एक प्रकट होते रहते हैं । परन्तु अकेलेमें भगवान्‌का चिन्तन करनेसे उनके भाव प्रकट नहीं होते । अगर भाव प्रकट हो भी जायँ तो अकेले अपने पास ही रहते हैं, उनका आदान-प्रदान नहीं होता ।

‘कथयन्तश्च नाम’—उनका कोई भगवान्‌की कथा, लीला सुननेवाला भगवद्‌क मित्र जाता है, तो वे भगवान्‌की लीला, कथा का एक झुण्ड कर देते हैं । जैसे नन्दकादि चारों भगवान्‌की कथा प्रकट हैं और सुनते हैं । उनमें कोई एक वक्ता बन जाता है और शेष श्रोता बन जाते हैं । ऐसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंको कोई सुननेवाला मित्र जाता है तो वे उसको भगवान्‌की कथा, गुण, प्रभाव, महिमा आदि सुनते हैं; और कोई सुनानेवाला मिल जाता है तो वे स्वयं सुनने लग जाते हैं । परन्तु उनमें सुनाने समय ‘वक्ता’ भगवान्‌के आशयन नहीं होता और सुनने समय ‘श्रोता’ वक्ताकी भाव नहीं लेता ।

‘नित्यं नृप्यान्ति च’—जब तरह भगवान्‌की कथा, लीला, गुण, प्रभाव, महिमा आदिको आदरमें एक-दूसरेको जनाते हुए और उनका ही प्रभाव तथा चिन्तन करते हुए वे भक्त नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामों हैं । तात्पर्य है कि उनकी मनुष्यिका कारण भगवान्‌के मित्र्य इतर कोई नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं ।

‘समन्ति च’—वे भगवान्‌में ही स्वयं अर्थात् प्रेम करते हैं । इस प्रेमसे उनमें और भगवान्‌में भेद नहीं रहता—‘नस्मिस्तज्जने भेदाभावात्’ ( भागवत-संस्कृत ११ ) । यही भक्त भगवान्‌के भक्त

हो जाता है, तो कभी भगवान् अपने भक्तों के भक्त बन जाते हैं\* । इस तरह भगवान् और भक्तों परस्पर प्रेमयी लीला अनन्तकाल तक चालती ही रहती है, और प्रेम प्रतिभंग बढ़ता ही रहता है ।

इस वर्णनमें साधककी इन बातकी तत्काल ध्यान देना चाहिये कि उनकी छरेक क्रिय, भाव आदिका प्रवाह केवल भगवान्की तरफ ही हो ।

सम्बन्ध—

पुण्ड्रश्लोकनं भक्तोंकं द्वारा होनेवाले भजनका प्रकार बताकर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् उनपर विशेष दृष्टा करनेकी बात पताते हैं ।

श्लोक—

तेषां सततयुक्तानां भक्तानां प्रीतिपूर्वकम् ।  
इदामि युक्तियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

अर्थ—

उन निरवलिप्त मेरे लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंके मेरे युक्तियोग देना है, जिससे उनको मेरी प्रीति हो जाती है ।

व्याख्यान—

[ भगवान् भक्त भगवान्को जोड़कर न तो समत चलाते हैं, न नरवान चलाते हैं नश न और ही कुछ चलाते हैं । उनका

\* अथ साधकको रात्र भगवान् ननु भक्तिमान् ।

( श्रीमद्भाग. १० । ८६ । १५९ )

\* नारायणोप न संस्तरितोप न सार्वभौमं न समस्तिवन् ।

न दोषगिद्धोऽनुमतेर वा सार्वभौमोऽप्यसि मदिनाय ॥

( श्रीमद्भाग. ११ । १४ । १४ )

तो एक ही काम हैं—हरदम भगवान्में लगे रहना । भगवान्में लगे रहनेके लिये उनके लिये कोई काम ही नहीं है । अब सारा-का-सारा काम, सारी जिम्मेवारी भगवान्की ही है अर्थात् उन भक्तोंसे जो कुछ कराना है, उनको जो कुछ देना है आदि सब काम भगवान्का ही रह जाता है । इस वास्ते भगवान् यहाँ ( दो श्लोकोंमें ) उन भक्तोंको समता और तत्त्वज्ञान देनेकी बात कह रहे हैं । ]

‘तथां नतनयुक्तानाम्’—नवें श्लोकके अनुसार जो भगवान्में ही चित्त और प्राणरत्ने हैं, भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला, रहस्य आदिको आपनमें एक-एकको जनाने हुए तथा भगवान्के नाम, गुणोंका स्मरण करते हुए नित्य-निरन्तर भगवान्में ही सन्तुष्ट रहते हैं, और भगवान्में ही प्रेम करते हैं, ऐसे नित्य-निरन्तर भगवान्में लगे हुए भक्तोंके लिये यहाँ ‘नतनयुक्तानाम्’ पद आया है ।

‘भजतां प्रीतिपूर्वकम्’—वे भक्त न ज्ञान चाहते हैं, न वैराग्य । ज्ञान में सामर्थिक ज्ञान, वैराग्य आदि भी नहीं चाहते, तो फिर सामर्थिक भोग तथा अस्तित्व और नयनिधि चाह ही कैसे सकते हैं ! उनकी दृष्टि इन कर्मजनोंकी तरह जाती ही नहीं । उनके हृदयमें किसी अद्विका कोई आदर नहीं होता, कोई मूल्य नहीं होता । वे तो केवल भगवान्को अपना मानते हुए प्रेमपूर्वक स्वाभाविक

---

जाते हैं। वे प्रीति पूर्वक कर्मका भक्त सुख छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, मरुत्के पूर्वका राज्य, पतञ्जलि लोकका राज्य, योगकी महाराजिकी और मोक्षकी भी नहीं चाहता ।

ही भगवान्‌के भजनमें लगे रहते हैं। उनका किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिसे किसी तरहका कोई सम्बन्ध नहीं रहना। उनका भजन, भक्ति यही है कि हरदम भगवान्‌में लगे रहना। भगवान्‌की प्रीतिमें वे इतने मत्त रहते हैं कि उनके भीतर स्वप्नमें भी भगवान्‌के निराय कोई इच्छा जाग्रत नहीं होनी।

‘इदामि बुद्धियोगं तम्’—किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगसे अन्तःकरणमें कोई हलचल न हो अर्थात् संसारके पदार्थ मित्रे या न मित्रे, नरक हो या नुकरमान हो, अदर हो या निरादर हो, स्तुति हो, निन्दा हो, स्तम्भ्य ठीक रहे या न रहे आदि तरह-तरहकी और एक-एकसे विरुद्ध विभिन्न परिस्थितियाँ आनेपर भी उनमें एकारूप ( सम ) रह सकें—ऐसा बुद्धियोग अर्थात् समता में उन भक्तोंको देता हूँ।

‘इदामि’ का तात्पर्य है कि वे बुद्धियोगको अज्ञा नहीं मानते, प्रयुक्त भगवान्‌का दिया हुआ ही मानते हैं। इस करने बुद्धियोगको लेकर उनको अपनेको कोई विशेषता नहीं मानना देनी।

‘येन’—में उनको वह बुद्धियोग देना हूँ, जिस बुद्धियोगने वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं।

‘मामुपयान्ति ते’—जब वे भगवान्‌में ही चित और प्रणवने हो गये हैं और भगवान्‌में ही मनुष्य रहते हैं तथा भगवान्‌में ही प्रेम करते हैं, तो उनके चिते अब भगवान्‌को प्राप्त होना क्या बाकी रहा, जिसने कि भगवान्‌को यह पदार्थ पद रहा है कि वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं। मेरेको प्राप्त हो जानेका तात्पर्य है कि वे प्रेमी भक्त

अदम्ये जो कमी मानते हैं, वह कमी उनमें नहीं रहती अर्थात् उन्हें दर्शनका अनुभव हो जाता है ।

श्लोक—

नेषामेवानुक्रमार्थमहमजानजं तमः ।  
नाशयाम्यात्मभायस्यो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्थ—

उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके होनेपरमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्वयार्थको वेदीप्यमान ज्ञानस्वरूप दीपके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

व्याख्या—

नेषामेवानुक्रमार्थमहमजानजं तमः—उन भक्तोंके हृदयमें कृपा भी सामाजिक इच्छा नहीं होती । इतना ही नहीं, उनके भीतर मुझे श्रेष्ठतर मुक्तिदात्री भी इच्छा नहीं होती\* । अभिप्राय है कि वे न तो सामाजिक चीजें चाहते हैं और न पारमार्थिक चीजें ( भक्ति, वन्द्योप-भक्ति ) ही चाहते हैं । वे तो केवल प्रेमसे

० ११ ) न वेदमर्षिमासां ज्ञानार्थं क्वचिमाप्सुत ।

ईश्वरार्थं न समन्तं विना भक्त्यननं जनाः ॥

( श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३ )

जैसे प्रेमी भक्तोंकी सेवाकी छोड़कर साम्प्रदायिक, साहि, धर्मिक, सामाजिक और सामुदायिक । इन पांच प्रकारकी ) मुक्तियोंको वेदना भी नहीं करते ।

१०१ ) अहं विना • परे भक्त्यननं ।

भक्ति विना ही भक्ति उभाने ॥ ( मानस ३ । ११८ । ४ )

मेरा भजन ही करते हैं। उनके इस निष्प्रामाण्य और प्रेमपूर्वक भजन करनेकी देवकीर मंग एदय द्रवि हो जाता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वारा उनकी कुट मेरा बन जाय, वे मेरेसँ कुट ले लें। परन्तु वे मेरेसे कुट लेने नहीं तो द्रवि एदय होनेके कारण फेरक उनका एसा करनेके त्रिप एपा-परसा होकर मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको दूर कर देता हूँ। मेरे द्रविण एदय होनेका कारण यह है कि मेरे भक्तोंमें किसी प्रकारकी सिद्धिन्नात्र भी कारी न रहे।

‘भक्तभावस्यः’—प्रणी अस्ता जो होनास्त मानते हैं कि ‘मैं हूँ’ तो यह होनास्त प्रायः प्रदति- ( शरीर- ) के साथ सम्बन्ध जोड़कर ही मानते हैं अर्थात् नाशाम्यके कारण शरीरके बद्रतमेंसे अस्ता बद्रतना मानते हैं, जैसे—मैं बद्रक हूँ, मैं जलन हूँ, मैं चरान हूँ, मैं निर्वृत हूँ इत्यादि। परन्तु इन त्रिोत्तोंकी जोड़कर तत्त्वकी दृष्टिमें इन प्राणिकोंका अस्ता जो होनास्त है, यह प्रदतिमें गीत है। इसी होनेकमे गदा रहनेरते प्रनुके त्रिे वही ‘भक्तभावस्यः’ पर अत्र है।

‘भक्त्यता इतिर्दीपित नानावामि’—प्रदमानन इतिर्दीपितके द्वारा इन इतिर्दीपिते अत्र एव अन्धकारका नशा कर देना है। तत्पर है कि जिन अज्ञानके कारण मैं दीन हूँ और मेरा मस्ता रूप है। ऐसा जो अज्ञानकला रहता है, उन अज्ञानका मैं नशा कर देना हूँ अर्थात् तत्त्वकोर परा देना हूँ। जिन तत्त्वोंकी मदिरा शक्तोंमें कमी गयी है, उसके त्रिे उनको धरना, फलन,



निदिध्यात्मन आदि साधन नहीं करने पड़ते और कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मैं स्वयं उनको तत्त्वबोध करा देता ।

### विशेष बात

भक्त जब केवल भगवान्में लगे रहते हैं, तो सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना—यह 'समता' भी भगवान् देते हैं और जिसके समान पवित्र कोई नहीं है, वह 'तत्त्वबोध' ( स्वरूप ज्ञान ) भी भगवान् स्वयं देते हैं । भगवान्के स्वयं देनेका तात्पर्य है कि भक्तोंको इनके लिये इच्छा और प्रयत्न नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उनमें समता स्वतः आ जाती है, उनको तत्त्वबोध स्वतः ही जाता है\* । कारण कि जहाँ भक्तिरूपी माँ होगी, वहाँ उसके वैराग्य और ज्ञानरूपो बेटे रहेंगे ही । इसलिये भक्तिके अनेक समता—संसारसे वैराग्य और अपने स्वरूपका बोध—ये दोनों स्वतः आ जाते हैं । इसका तात्पर्य है कि जो साधनरूप्य पूर्णता होती है, उसकी अपेक्षा भगवान्द्वारा की हुई पूर्णता बहुत विदग्ध होता है । इसमें अदूर्णताकी गंध भी नहीं रहती ।

मानवों और सब अन्धकारमें ज्ञान-विज्ञान करानेकी जो प्रतिज्ञा की थी, उसीका संकेत भगवान्ने यहाँ ( पहले श्लोकमें ) 'भूयः' शब्दसे किया है, और 'परमं वचनं' पद करानेका तात्पर्य है कि मैंने मे अन्धकारमें भक्त करानेवाले भक्तोंके योगधेन बहुत करता

\* सम धरान का सम धनूरा । बोध काय निज सत्त्व मन्था ॥

हैं, ऐसे ही जो फेरु मेरे ही परायण हैं, ऐसे प्रेमी भक्तोंको ( उनके न चाहनेपर भी और उनके लिये कुछ भी कार्य न रहनेपर भी ) मैं ममता और तत्परता देता हूँ । यह मम देनेपर भी भगवान् उन भक्तोंके श्रेणी ही बने रहने हैं । भगवान्में भगवान्ने गोरियोंके लिये कहा है कि 'मेरे माय नर्या, निर्दोष ( अनन्ध ) सम्पन्न जोइनेवाली गोरियोंका मेरेम जो एहमन है, श्रेण है, उनको मैं देवताओंके समान लक्ष्मी आयु प्राकर भी नहीं चुका सकता । कारण कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, तपस्वी आदि भी परती निम अपनापनरूपी वेदियोंको सुगमतासे नहीं तोड़ पाते, उनको इन्होंने तोड़ डाला है । †

भक्त भगवान्के भजनमें इतने तन्वीन रहते हैं कि उनको यह पता ही नहीं रहता कि हमारेमें ममता क्यों है, हमें नरूपकर कोर हुआ है । अगर कभी पता लग जाता है तो ये अक्षय करते हैं कि ये ममता और कोर कहाँसे आये ! अब ये अपनेमें कोई शिरोन न दीने' इन्के लिये भगवान्ने प्रार्थना करने हैं कि 'हे माय ! आप ममता, कोर ही नहीं, दुनियाके उद्वेगपर अधिकार भी

६ अन्धकारिण्यन्तो मा द क्ताः पतुराणो ।

तेषां निरुत्थिभुम्भाना दोमरेम पराम्भरन् ॥

(गीता ९ । २२)

† न करपेऽहं निरपदमनुज मरुत्पुत्रां विदुषामुत्तमैः वः

वा माभजन दूरेणैरशुभान् मरुध्वज हृदयः प्रविशतु मनुजा ॥

( श्रीमद्भाग. १०। २३ । २४ )

दे दे, तो भी मेरेको कुछ नाष्टम नहीं होना चाहिये कि मेरेमें यह विभेदना है । मैं केवल आपके भजन-चिन्तनमें ही लगा रहूँ ।'

सम्बन्ध—

भक्तोंपर भगवान्की अनौकिक, विलक्षण कृपाकी बात सुनकर अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की कृपाकी तरफ जाती है और उस कृपासे प्रभावित होकर वे अगले चार श्लोकोंमें भगवान्की स्तुति करते हैं ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।  
 पुरुषं शाश्वतं दिव्यमाद्दिदमजं विभुम् ॥ १२ ॥  
 आहुन्त्वान्मृत्युः सर्वं देवर्षिर्नारदस्तथा ।  
 अग्निर्ना देवन्दो व्यासः स्वयं नैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र आप ही हैं । आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु (सर्वशक्ति) हैं—किस मृत्यु-कालमें ऋषि, देवर्षि नारद, अग्नि, देव, नारद परम कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ।

व्याख्या—

'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्'—सामने बैठे हुए भगवान्की स्तुति करते हुए अर्जुन कहते हैं कि मेरे पृष्ठनेपर जिसमें आपके परम ब्रह्म (गीता ८।३) कहा, वह परम ब्रह्म आप ही हैं । जिसमें मृत्यु-काल स्थित रहता है, वह परमधाम अर्थात् परम ब्रह्म आप ही हैं (गीता ९।१८) । जिसको पवित्रोंमें भी पवित्र कहा है—'पवित्राणां पवित्रं यः' वह महान् पवित्र भी आप ही हैं ।

‘पुत्र्यं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुं स्वयं नैव  
 प्रीति मे’—अनाके स्वसे ‘शाश्वत’ ( गीता २ । २० ), मनुष्य-  
 न्गिराके स्वसे ‘दिव्य पुत्र्य’ ( गीता ८ । १० ), देवजने और  
 महर्षियों अदिके स्वसे ‘आदिदेव’ ( गीता १० । २ ), मृत लोग  
 मेरेको जन नहीं जानते ( गीता ७ । २५ ) तथा अज्ञान लोग  
 मेरेको जन जानते हैं ( गीता १० । ३ )—इन स्वसे ‘अज’, और मैं  
 अज्ञानस्वसे मारे संसारमें व्यापक हूँ ( गीता ९ । ४ )—इन स्वसे  
 ‘विभु’ स्वयं अपने मेरे प्रति कहा है ।

‘आहुन्त्यामृतयः सर्वे देवर्षिर्नामदत्त्वाया प्रमितो देवतो  
 व्यासः’—महाभारत आदि ग्रन्थोंमें श्रुतिपौत्रों, देवर्षि भगवन्तों,

● सांख्य श्रुति कहा है—‘भीतान् वशयेत् सर्वं ततोऽपि तत्र  
 अत्र नृप भविष्यत् सर्वमानस्य’ । ( महा० भाष्य० ६८ । ३ )

भृगु श्रुति कहा है—‘य देवताभ्यो देवता नैव परम पुमान्  
 त्रिभुवोः’ । ( महा० भाष्य० ६८ । ८ )

अग्नि श्रुति कहा है—‘समभूत प्रविशेत् प्रवृत्तं परमेशो  
 देव’ । ( महा० भाष्य० ६८ । ६ )

महाभारत आदिमें कहा है—‘इत्येते भगवन्ते आरामे श्री  
 मुखादेवैः पृथो व्यास ६ । गीतां गौर इत्ये उदरसे विवर्षे । न मन्वान  
 पुत्रपते । ततमे अत्र परम मुक्त दानेः ही माधव इत्ये जन मन्वरे ।  
 भक्त्याः कर्मणे सुम सुम श्रुतिपौत्रे भी व परमा वृष्टे । सुदने कभी  
 पीठ न दिवानेः उदार सार्वभौते ही व ही परमर्षी दे ।  
 ( महा० भाष्य० ६८ । ८-१० )

† देवर्षि नादरर्षि कहा है—‘अगस्त्यं भीतान् समभूतं प्रविशे  
 उदरं परमेशोः और समभूतं भाषिषी जलनेः दे । न मन्वरे और  
 देवभ्यो देवभ्यो भी इत्ये दे । ( महा० भाष्य० ६८ । ९ )

होनेवाली है । इसलिये वे आपके प्रकट होनेके तत्त्वको, हेतुको पूरा-पूरा नहीं जान सकते । जब देवता भी नहीं जान सकते, तो दानव जान ही कैसे सकते हैं ? फिर भी यहाँ 'दानवाः' पद देनेका तात्पर्य यह है कि दानवोंके पास बहुत विलक्षण-विलक्षण माया है, जिससे वे विचित्र प्रभाव दिखा सकते हैं । परन्तु उस माया-शक्तिसे वे भगवान्को नहीं जान सकते । भगवान्के सामने दानवोंकी माया कुण्ठित हो जाती है । कारण कि प्रकृति और प्रकृतिकी जितनी शक्तियाँ हैं, उन सबसे भगवान् अतीत हैं । भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं और दानवोंकी माया-शक्ति कितनी ही विलक्षण होनेपर भी प्राकृत, सीमित और उत्पत्ति-विनाशशील है । सीमित और नाशवान् वस्तुके द्वारा असीम और अविनाशीतत्त्वको कैसे जाना जा सकता है ?

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपनी शक्तिसे, सामर्थ्यसे, योग्यतासे, बुद्धिसे भगवान्को नहीं जान सकते । कारण कि मनुष्य आदिमें जितनी जाननेकी योग्यता, सामर्थ्य, विशेषता है, वह सब प्राकृत है, और भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं । त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय आदि अन्तःकरणको निर्मल करनेवाले हैं, पर इनके बलसे भगवान्को नहीं जान सकते । भगवान्को ते अनन्यभावसे उनके शरण होकर उनकी कृपासे ही जान सकते हैं ।  
( गीता १० । ११ ) ।

श्लोक—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।  
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

अर्थ—

हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ।

व्याख्या—

‘भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते पुरुषोत्तम’—मात्र प्राणियोंको सकल्पमात्रसे उत्पन्न करनेवाले होनेसे आप ‘भूतभावन’ हैं, सम्पूर्ण प्राणियोंके और देवताओके मालिक होनेसे आप ‘भूतेश’ और ‘देवदेव’ हैं, जड़-चेतन, स्थानर-जङ्गममात्र जगत्का पालन-पोषण करनेवाले होनेसे आप ‘जगत्पति’ हैं; और सम्पूर्ण पुरुषोत्तम होनेसे आप लोकमें और वेदमें ‘पुरुषोत्तम’ नामसे कहे गये हैं\* ।

इस श्लोकमें पाँच सम्बोधन आये हैं । इनके सम्बोधन गीताभरमें दूसरे किसी भी श्लोकमें नहीं आये । कारण हे कि भगवान्की विभूतियों और भक्तोंपर कृपा करनेकी बात सुनकर अर्जुनमें भगवान्के प्रति विशेष भाव पैदा होते हैं और उन भावोंमें विभोर होकर वे भगवान्के लिये एक साथ पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करते हैं ।†

\* यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अनोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥

( गीता १५।१८ )

कायमें भी भगवान्को ‘पुरुषोत्तम’ नामसे कहा गया है—

‘हरिर्यथैकः पुरुषोत्तम स्मृत’ ( रघुवश ३।४९ )

† यहाँ भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते और पुरुषोत्तम—इन पाँच सम्बोधनोंको क्रमशः सूर्य, शिव, गणेश, शक्ति और विष्णु—इन

‘स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम्’—भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं । अपने-आपको जाननेमें उन्हें किसी प्राकृत साधनकी आवश्यकता नहीं है । अपने-आपको जाननेमें उनकी अपनी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, कोई जिज्ञासा भी नहीं होती, किसी करण-( अन्तःकरण और वहिःकरण- ) की आवश्यकता भी नहीं होती । उनमें शरीर-शरीरीका भाव भी नहीं है । वे तो स्वतः-स्वाभाविक रूपसे ही अपने-आपको जानते हैं । उनका ज्ञान करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं ।

इस श्लोकका भाव यह है कि जैसे भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं, ऐसे ही भगवान्के अंश जीवको भी अपने-आपसे ही अपने-आपको अर्थात् अपने स्वरूपको जानना चाहिये । अपने-आपको अपने स्वरूपका जो ज्ञान होता है, वह सर्वथा करण-निरपेक्ष होता है । इस वास्ते इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपने स्वरूपको नहीं जान सकते । भगवान्का अंश होनेसे भगवान्की तरह जीवका अपना ज्ञान भी करण-निरपेक्ष है ।

सम्बन्ध—

विभूतियोंका ज्ञान भगवान्में दृढ़ भक्त करानेवाला है ( गीता १० । ७ ) । इस वास्ते अब अगले तीन श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्से विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंका वाचक मान सकते हैं । इन सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि ये पाँचों देवता मूलतः आप ही हैं ।

श्लोक—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।  
याभिर्विभूतिभिलोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अर्थ—

जिन विभूतियोसे आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंका सम्पूर्णतासे वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं ।

व्याख्या—

भगवान्ने पहले ( सान्ने श्लोकमें ) यह बात कही कि जो मनुष्य मेरी विभूतियोंको ओर योगको तत्त्वसे जानता है, उसका मरेमें अटल भक्तियोग हो जाता है । उसे सुननपर अर्जुनके मनमें आया कि भगवान्मे दृढ भक्ति होनेका यह बहुत सुगम और श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि भगवान्की विभूतियों और योगको तत्त्वसे जाननेपर मनुष्यका मन भगवान्की तरफ स्वाभाविक ही खिंच जाता है और भगवान्में उसकी स्वाभाविक ही भक्ति जाग्रत हो जाती है । अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याणके लिये उनको भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय दीखता है । इस रास्ते अर्जुन कहते हैं कि जिन विभूतियोंसे आप सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं— 'याभिर्विभूतिभिलोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि' उन अत्रौनिक, प्रिक्शण विभूतियोंका विस्तारपूर्वक सम्पूर्णतासे वर्णन कीजिये । कारण कि उनको रहनेमें आप ही समर्थ है, आपके सिवाय उन विभूतियोंको और कोई नहीं कह सकता ।



‘तुमर्हस्यशेषेण’—आपने पहले सातवें, नवें और यहाँ दसवें अध्यायके आरम्भमें अपनी विभूतियाँ बतार्याँ और उनको जानने-फल दृढ़ भक्तियोग होना बताया। अतः मैं भी आपकी सब विभूतियोंको जान जाऊँ और मेरा भी आपमें दृढ़ भक्तियोग हो जाय, इस वास्ते आप अपनी विभूतियोंको पूरी-की-पूरी कह दें, बाकी कुछ न रखें।

‘दिव्या ह्यात्मविभूतयः’—विभूतियोंको दिव्य कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मूलमें दिव्य परमात्माकी ही है, संसारकी नहीं। इस वास्ते संसारकी विशेषता देखना भोग है और परमात्माकी विशेषता देखना विभूति है—योग है।

श्लोक—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केपु केपु च भावेपु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

अर्थ—

हे योगिन् ! हरदम साङ्गोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ? और हे भगवन् ! किन-किन भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ ?

व्याख्या—

‘कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्’—सातवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इस वास्ते

अर्जुन भगवान्से पूछते हैं कि हरदम चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ?

‘केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽमि भगवन्मया’—आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो अनन्यचित्त होकर नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस योगीको मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ । फिर नवें अध्यायके वाईसवें श्लोकमें कहा कि जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ । इस प्रकार चिन्तनकी महिमा सुनकर अर्जुन कहते हैं कि जिस चिन्तनसे मैं आपको तत्पसे जान जाऊँ, वह चिन्तन मैं कहाँ-कहाँ करूँ ? किस वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिमें मैं आपका चिन्तन करूँ ? [ यहाँ चिन्तन करना साधन है और भगवान्को तत्पसे जानना साध्य है । ]

यहाँ अर्जुनने तो पूछा है कि मैं कहाँ-कहाँ, किस किस वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदिमें आपका चिन्तन करूँ, पर भगवान्ने आगे उत्तर यह दिया है कि जहाँ-जहाँ भी तू चिन्तन करता है, वहाँ-वहाँ ही तू मेरेको समझ । तात्पर्य यह है कि मैं तो सब वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदिमें परिपूर्ण हूँ । इस वास्ते किसी विशेषता, महत्ता, सुन्दरता आदिको लेकर जहाँ-जहाँ तेरा मन जाता है, वहाँ-वहाँ मेरा ही चिन्तन कर अर्थात् वहाँ उस विशेषता आदिको मेरी ही समझ । कारण कि ससारकी विशेषताको माननेसे ससारका चिन्तन होगा, पर मेरी विशेषताको माननेसे

मेरा ही चिन्तन होगा । इस प्रकार संसारका चिन्तन मेरे चिन्तनमें परिणत होना चाहिये ।

श्लोक—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ—

हे जनार्दन ! आप अपने योग- ( सामर्थ्य- ) को और विभूतियों-को विस्तारसे फिर कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।

व्याख्या—

‘विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन’—भगवान्ने सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका विषय खूब कह दिया । इतना कहनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई, इसलिये दसवाँ अध्याय अपनी ओरसे ही कहना शुरू कर दिया । भगवान्ने दसवाँ अध्याय आरम्भ करते हुए कहा कि ‘तू फिर मेरे परम वचनको सुन ।’ ऐसा सुनकर भगवान्की कृपा और महत्त्वकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि विशेषतासे जाती है और वे भगवान्से फिर सुनानेके लिये प्रार्थना करते हैं । अर्जुन कहते हैं कि आप अपने योग और विभूतियोंको विस्तारपूर्वक फिरसे कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है । मन करता है कि सुनता ही चला जाऊँ ।

भगवान्की विभूतियोंको सुननेसे भगवान्में प्रत्यक्ष आकर्षण बढ़ता-देखकर अर्जुनको लगा कि इन विभूतियोंका ज्ञान होनेसे

भगवान्के प्रति मेरा विशेष आकर्षण हो जायगा, और भगवान्में सहज ही मेरी दृढ़ भक्ति हो जायगी। इस रास्ते अर्जुन विस्तारपूर्वक फिरसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

### स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न-सम्बन्धी विशेष बात

स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—इन तीनोंमें क्या अन्तर है ? इसे यहाँ बताया जाता है।

स्तुतिमें भगवान्की माहमा, गुण, प्रभाव आदि का स्तवन ( गान ) होता है। प्रार्थनामें भगवान्के गुणों आदिको तत्परसे जाननेकी अथवा भगवान्से कुछ पानेकी इच्छा होती है। अपने हृदयमें कोई हलचल, सन्देह, जिज्ञासा होती है, उसको दूर करनेके लिये प्रश्न होता है।

स्तुतिमें भगवान्के प्रति ज्यादा आस्तिकभाव होता है। प्रार्थनामें आस्तिकभावके साथ साथ अपनी इच्छा भी रहती है। प्रश्नमें केवल अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति करना होता है।

स्तुतिमें पूज्यभाव ज्यादा होता है। प्रार्थनामें पूज्यभावके साथ-साथ विश्वास तथा अपनी इच्छा भी होती है। प्रश्नमें केवल निपयका समाधान करनेकी इच्छा रहती है।

स्तुतिमें भगवान्के गुणगानकी मुख्यता है। प्रार्थनामें गुणगानकी मुख्यता होते हुए भी साथमें अपनी माँग है। प्रश्नमें भी गुणगान होता है, पर जिज्ञासा, सन्देह दूर करना मुख्य है। इस दृष्टिसे प्रश्नमें जितने अंशमें विशेषता दीखती है, उतना अंश स्तुति है, और जितने अंशमें समाधान चाहता है, उतना अंश प्रार्थना है।

जहाँ भक्तका भगवान्के साथ घनिष्ठ अपनापन है, वहाँ भगवान्के गुण दीखते हुए भी स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न नहीं होते । कारण कि जब 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हूँ' तो क्या भगवान्में विशेषता है और क्या मेरेमें कमी है ! इस तरह भक्तकी भगवान्के साथ जो आत्मीयता, एकता, तल्लीनता, प्रेम है, उससे भगवान्को विशेष आनन्द मिलता ( भगवान्का यह विशेष आनन्द ही भक्तका आनन्द होता है । भक्तका अपना कोई विशेष आनन्द नहीं है ) । इस प्रेमका नाम ही माधुर्य है । इसमें स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—ये तीनों ही नहीं होते ।

गीताभरमें अर्जुन जहाँ-जहाँ बोले हैं, वहाँ किसमें स्तुति है, किसमें प्रार्थना है और किसमें प्रश्न है, इसको संक्षेपसे नीचे दिया जाता है—

पहले अध्यायके इक्कीसवें श्लोकके उत्तरार्धसे लेकर तेईसवें श्लोकतक अर्जुन जो बोले हैं, उसमें स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—ये तीनों ही नहीं हैं । वहाँ धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, जोशमें आकर अपना रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये भगवान्को आज्ञा देते हैं । ऐसे ही अट्ठाईसवें श्लोकके उत्तरार्धसे लेकर छियालीसवें श्लोकतक अर्जुनने कायरता, शोक आदिके वचन कहे हैं ।

दूसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे आठवें श्लोकतक अर्जुनने प्रायः युद्ध करनेका अनौचित्य ही सिद्ध किया है । केवल सातवें श्लोकके पूर्वार्धमें अपनी कमजोरीके कारण 'मेरेको क्या करना

चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये' इस विषयमें अर्जुनका प्रश्न है; और उत्तरार्धमें 'मेरा निश्चित कल्याण हो जाय' इसके लिये अर्जुनकी भगवान्से शरणागतिपूर्वक प्रार्थना है । फिर चौथों श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? वह कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ?' इस तरह जिज्ञासापूर्वक चार प्रश्न हैं ।

तीसरे अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'जब कर्मसे बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो फिर मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं । जिससे मैं श्रेयको प्राप्त हो जाऊँ—यह एक बात कहिये' इस तरह प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है । छत्तीसवें श्लोकमें 'पाप करना न चाहते हुए भी मनुष्यके द्वारा पाप करानेवाला कौन है ?' इस तरह जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है ।

चौथे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'आपने सूर्यको उपदेश कैसे दिया ?' इस तरह भगवान्के अन्तरके विषयमें अर्जुनका जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है ।

पाँचवें अध्यायके पहले श्लोकमें सन्ध्याम और योगके विषयमें अर्जुनका प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है ।

छठे अध्यायके तैत्तिरीय चर्चाश्लोकमें मनकी चञ्चलताके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है । सैत्तिरीय-अडतीसवें श्लोकमें योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें सन्देहपूर्वक प्रश्न है । उन्तालीसवें श्लोकमें सन्देहको दूर करनेके लिये अर्जुनने भगवान्की महत्ताको समझते हुए उनसे प्रार्थना की है ।

आठवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें ब्रह्म, अथात्म आदिके विषयमें अर्जुनका जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है ।

दसवें अध्यायके वारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌के प्रभावको लेकर उनकी स्तुति की है। सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है अर्थात् सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकमें प्रार्थना है तथा सत्रहवें श्लोकमें प्रश्न है।

ग्यारहवें अध्यायके पहलेसे चौथे श्लोकतक विश्वरूप दिखानेके लिये अर्जुनकी भगवान्‌से नम्रतापूर्वक प्रार्थना है। पंद्रहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान्‌के अलौकिक, दिव्य प्रभावको लेकर स्तुति है और इकतीसवें श्लोकमें प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है। छत्तीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक नमस्कारपूर्वक स्तुति है और इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना है। पैंतालीसवें-छियालीसवें श्लोकोंमें भगवान्‌से चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना है। इक्यावनवें श्लोकमें अर्जुनने केवल अपनी स्थितिका वर्णन किया है।

वारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'सगुण और निर्गुण उपासकों-में कौन श्रेष्ठ है' इस विषयमें अर्जुनका प्रश्न है।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीतके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है।

सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें निष्ठाको लेकर अर्जुनका प्रश्न है।

अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें संन्यास और योगके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है। तिहत्तरवें श्लोकमें निःसंदिग्धरूपसे भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेकी स्वीकृति है।

‘भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्’—अर्जुन श्रेयसा साधन चाहते हैं ( गीता २ । ७, ३१२, ५ । १ ), और भगवान् ने विभूति तथा योगको तत्परसे जाननेका फल अपनेमें दृढ भक्ति होना बताया ( गीता १० । ७ ) । इस रास्ते अर्जुनको विभूतियोंको जाननेवाली बात बहुत सरल लगी कि मेरेको कोई नया काम नहीं करना है, नया चिन्तन नहीं करना है, प्रयुक्त जहाँ नहीं विशेषता आदिको लेकर मनका स्वाभाविक खिंचाव होता है, वहीं उस विशेषताको भगवान् की मानना है । इससे मनकी वृत्तियोंका प्रवाह समारम न होकर भगवान् में हो जायगा, जिससे मेरी भगवान् में दृढ भक्ति हो जायगी और मेरा सुगमतासे कल्याण हो जायगा । मितनी सीधी, सरल और सुगम बात है । इस रास्ते अर्जुन विभूतियोंको फिर कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

जैसे, कोई भोजन करने बैठे और भोजनमें कोई वस्तु प्रिय ( वडिया ) मात्रा में दे, तो उसमें उसकी रुचि बढ़ती है और वह बार-बार उस प्रिय वस्तुको माँगता है । पर उस रुचिमें दो बाधाएँ लगती हैं—एक तो वह वस्तु अगर कम मात्रामें होती है तो पूरी तृप्तिपूर्वक नहीं मिलती, और दूसरी, वह वस्तु अधिक मात्रामें होनेपर भी पेट भर जानेसे अधिक नहीं खायी जा सकती । परन्तु भगवान् की विभूतियोंका और अर्जुनकी विभूतियाँ सुननेकी रुचिका भोजनकी तरह अन्त नहीं आता । कानोंके द्वारा अमृतमय वचनको सुनते हुए न तो उन वचनका अन्त आता है, और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही होती है । इस वास्ते अर्जुन भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप ऐसे अमृतमय वचन सुनाते ही जाइये ।



सम्बन्ध—

अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् अब अगले श्लोकसे अपनी विभूतियों और योगको कहना आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्म्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हाँ, ठीक है । मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तेरे लिये प्रवानतासे ( संक्षेपसे ) कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है ।

व्याख्या—

‘हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः’—योग और विभूति कहनेके लिये अर्जुनकी जो प्रार्थना है, उसको ‘हन्त’ अव्ययसे स्वीकार करते हुए भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी दिव्य, अलौकिक, विलक्षण विभूतियोंको तेरे लिये कहूँगा ( योगकी बात भगवान्ने आगे इकतालीसवें श्लोकमें कही है ) ।

‘दिव्याः’ कहनेका तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह वस्तुतः भगवान्की ही है । इस वास्ते उसको भगवान्की ही देखना दिव्यता है, और वस्तु, व्यक्ति आदिकी देखना लौकिकता है ।

‘प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे’—जब अर्जुन ने कहा कि भगवान् ! आप अपनी विभूतियोंको विस्तारसे, पूरी क्री-पूरी कह दें, तो भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है। पर आगे ग्यारहवें अध्यायमें जब अर्जुन बड़े समोचसे कहते हैं कि मैं आपका विश्वरूप देखना चाहता हूँ, अगर मेरे द्वारा यह रूप देखा जाना शक्य है तो दिया दीजिये, तब भगवान् कहते हैं—‘पश्य मे पार्थ रूपाणि’ ( ११ । ५ ) अर्थात् तू मेरे रूपाको देख ले। रूपोंमें कितने रूप ? क्या दो-चार ? नहीं-नहीं सैकड़ों हजारों रूपोंको देख ! इस प्रकार यहाँ अर्जुनकी विस्तारसे विभूतियाँ कहनेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् संक्षेपसे विभूतियाँ सुननेके लिये कहते हैं और वहाँ अर्जुनकी एक रूप दिखानेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् सैकड़ों हजारों रूप देखनेके लिये कहते हैं !

यह एक बड़ा आश्चर्यको बात है कि सुननेमें तो आदमी बहुत सुन सकता है, पर उतना नेत्रोंसे देख नहीं सकता, क्योंकि देखनेकी शक्ति कानोंकी अपेक्षा सीमित होती है\* । फिर भी

---

\* कानका विषय है शब्द, और शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। कानके द्वारा शब्दोंको सुनकर हमें प्रत्यक्ष भी ज्ञान होता है। और अप्रत्यक्ष (स्वर्ग, नरक आदि) का भी ज्ञान होता है। इसीलिये वेदान्त प्रक्रिया (श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि) में ‘श्रवण’ सबसे पहले आया है। ऐसी ही भक्तिमत्ता (श्रवण, कर्तन, स्मरण, पादसेवन आदिमें) ‘श्रवण’ पहले आया है। शास्त्रोंमें जिन परमात्मतत्त्वका ज्ञान किया गया है,

जब अर्जुनने सम्पूर्ण विभूतियोंको सुननेमें अपनी सामर्थ्य बतायी तो भगवान्ने संक्षेपसे सुननेके लिये कहा; और जब अर्जुनने एकरूपको देखनेमें नम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट की तो भगवान्ने अनेक रूप देखनेके लिये कहा । इसका कारण यह है कि गीतामें अर्जुनका भगवद्विषयक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । इस दसवें अध्यायमें जब भगवान्ने यह कहा कि मेरी विभूतियोंका

उसका ज्ञान ( परोक्ष ज्ञान ) हमें कानोंसे ही होता है अर्थात् कानोंसे सुनकर ही उसके अनुसार करने, मानने या जाननेसे हम उस परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं ।

शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षधीः ।

प्रसुतः पुरुषो यद्रच्छब्देनैवावबुध्यते ॥

मनुष्य सोता है तो नींदमें इन्द्रियाँ संकुचित होकर मनमें, मन संकुचित होकर बुद्धिमें और बुद्धि संकुचित होकर अज्ञान- ( अविद्या ) में लीन हो जाती है । इस तरह यद्यपि नींदमें इन्द्रियाँ बहुत छिपी रहती हैं, तथापि सोये हुए आदमीका नाम लेकर पुकारा जाय तो वह जग जाता है । शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह अविद्यामें लीन हुएको भी जगा देता है । इस वास्ते शब्दमें अनन्त शक्ति है । दृष्टि तो पदार्थतक जाकर रुक जाती है । पर शब्द केवल कानतक ही नहीं जाता, प्रत्युत स्वयंतक चला जाता है ।

नेत्रोंमें रूप पकड़ा जाता है । जैसे दर्पणमें मुख देखते समय काँचके भीतर रूप चला जाता है तो उसमें मुख दिखायी देने लगता है, ऐसे ही आँखमें भी एक काँच है, जिसके भीतर पदार्थका रूप चला जाता है तो वह पदार्थ दिखायी देने लगता है । नेत्रोंमें एक विशेष शक्ति यह है कि वे पहले रूपको पकड़े हुए ही दूसरे रूपको

अन्त नहीं है, तो अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की अनन्तताकी तरफ चली गयी। उन्होंने समझा कि भगवान्के विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं, अपार हैं। परन्तु अर्जुनने भूलसे कह दिया कि आप अपनी सप्तकी-सद्विभूतियाँ कह दीजिये। इस वास्ते अर्जुन आगे चलकर सावधान हो जाते हैं और नम्रतापूर्वक एक रूपको दिखानेके श्रिये ही भगवान्से प्रार्थना करते हैं। नेत्रोंकी शक्ति सीमित होते हुए भी भगवान् दिव्य चक्षु प्रदान करके अर्थात् चर्मचक्षुओंमें विशेष शक्ति प्रदान करके अपने अनेक रूपोंको देखनेकी आज्ञा देने हैं।

देख लेते हैं, इसी कारण जब निजलीस पद्मा चम्पा है, तब उसका तीना पर अग्य अलग घूमनेपर भी नेत्रोंको ( अलग अलग पर घूमते दिग्गामी न देखकर ) एक चक्र मा दिग्गामी देता है। ऐसा होने हुए भी कानाम चित्तनी शक्ति है, उतनी नेत्रोंमें नहीं है।

इन्द्रियाँ फल अपने अपने विषयोंको ही पकड़ सकती हैं, परमात्मतत्त्वको नहीं पकड़ सकतीं, क्योंकि परमात्मतत्त्व इन्द्रियोंका विषय नहीं है। परमात्मतत्त्व स्वयम् विषय है अर्थात् उसका ज्ञान स्वयसे ही होता है। इस वास्त अर्जुनन इस अध्यायम कहा है कि आप स्वयको स्वयसे ही जानते हैं—'स्वयमेवामनामान यत् त्वम्' (गीता १०। १५)। दूसरे अध्यायम भगवान्ने बताया है कि मनम आयी हुई सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़नेपर मनुष्य अपनेस ही अपने आपमें सन्तुष्ट होता है—'अज्ञहाति यदा कामान्मवाप्साथ मनोगतान्। आत्मन्येवामना सुख' ( २। ५५ )। ताज्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण निरपेक्ष है। उस ज्ञानको प्राप्त नहीं पकड़ सकतीं, पर ज्ञान शब्दके द्वारा पकड़ करके स्वयत्क पट्टा देता है।

दूसरी बात, वक्ताकी व्यक्तिगत बात पूछी जाय, और अपनी अज्ञता तथा अयोग्यता-पूर्वक अपने जाननेके लिये प्रार्थना की जाय—इन दोनोंमें फरक होता है। यहाँ अर्जुनने विस्तारपूर्वक विभूतियाँ कहनेके लिये कहकर भगवान्की थाह लेनी चाही, तो भगवान्ने कह दिया कि मैं तो संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंकी थाह नहीं है। ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनने अपनी अज्ञता और अयोग्यता प्रकट करते हुए भगवान्से अपना अव्यय रूप दिखानेकी प्रार्थना की, तो भगवान्ने अपने अनन्त रूप देखनेके लिये आज्ञा दी और उनको देखनेकी सामर्थ्य ( दिव्य-चक्षु ) भी दी ! इस वास्ते, साधकको किञ्चिन्मात्र भी अपना आग्रह, अहंकार न रखकर और अपनी सामर्थ्य, बुद्धि न लगाकर केवल भगवान्पर ही सर्वथा निर्भर हो जाना चाहिये, क्योंकि भगवान्की निर्भरतासे जो चीज मिलती है, वह अपार मिलती है।

सम्बन्ध—

विभूतियाँ और योग—इन दोनोंमेंसे पहले भगवान् बीसवें श्लोकसे उन्तालोंसवें श्लोकतक अपनी बयासी विभूतियोंका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अर्थ—

हे नाँदको जीतनेवाले अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भी मैं ही हूँ; और प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मरूपसे भी मैं ही स्थित हूँ।

व्याख्या—

[ भगवान्का चिन्तन दो तरहसे होता है—( १ ) साधक अपना जो इष्ट मानता है, उसके सिवाय दूसरा कोई भी चिन्तन न हो । कभी हो भी जाय तो मनको वहाँसे हटाकर अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा दे; और ( २ ) मनमें सांसारिक विशेषताको लेकर चिन्तन हो, तो उस विशेषताको भगवान्की ही विशेषता समझे । इस दूसरे चिन्तनके लिये ही यहाँ विभूतियोंका वर्णन है । तात्पर्य है कि किसी विशेषताको लेकर जहाँ-कहीं वृत्ति जाय, वहाँ भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये, उस वस्तु-व्यक्तिका नहीं । इसीके लिये भगवान् विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं । ]

‘अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च’\*—यहाँ भगवान्ने अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका सार कहा है कि सम्पूर्ण प्राणियोंके

● यहाँ ‘आदिः’ और ‘अन्तः’ शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें और ‘मध्यम्’ शब्दका प्रयोग नपुंसकलिङ्गमें किया गया है । इसका तात्पर्य है कि आदिमें अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—‘अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः’ ( गीता १०। २ ), और अन्तमें भी अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—‘शिष्यते शेषसंशः’ ( श्रीमद्भा० १० । ३ । २५ ) । इस वास्ते भगवान्ने ‘आदि’ और ‘अन्त’ शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें किया है । परन्तु मध्यमें अर्थात् सृष्टिके समय पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—तीनों लिङ्गोंवाले व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ क्रिया, भाव आदि रहते हैं । अतः इन तीनों लिङ्गोंमें नपुंसकलिङ्ग ही शेष रहता है अर्थात् नपुंसकलिङ्गके अन्तर्गत ही तीनों लिङ्ग आ जाते हैं । इस वास्ते भगवान्ने यहाँ और आगे बत्तीसवें श्लोकमें भी ‘मध्य’ शब्दका प्रयोग नपुंसकलिङ्गमें किया है ।

आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ । यह नियम है कि जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशील होती है, उसके आरम्भ और अन्तमें जो तत्त्व रहता है, वही तत्त्व उसके मध्यमें भी रहता है ( चाहे दीखे या न दीखे ) अर्थात् जो वस्तु जिस तत्त्वसे उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है, उस वस्तुके आदि, मध्य और अन्तमें ( सब समयमें ) वही तत्त्व रहता है । जैसे, सोनेसे बने गहने पहले सोनारूप होते हैं और अन्तमें ( गहनोंके सोनेमें लीन होनेपर ) सोनारूप ही रहते हैं तथा बीचमें भी सोनारूप ही रहते हैं । केवल नाम, आकृति, उपयोग, माप, तौल आदि अलग-अलग होते हैं; और इनके अलग-अलग होते हुए भी गहने सोना ही रहते हैं । ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी आदिमें भी परमात्मस्वरूप थे और अन्तमें लीन होनेपर भी परमात्मस्वरूप रहेंगे तथा मध्यमें नाम, रूप, आकृति, क्रिया, स्वभाव आदि अलग-अलग होनेपर भी तत्त्वतः परमात्मस्वरूप ही हैं—यह बतानेके लिये ही यहाँ भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें कहा है ।

भगवान्ने विभूतियोंके इस प्रकरणमें आदि, मध्य और अन्तमें—तीन जगह साररूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है । पहले इस बीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ, बीचके बत्तीसवें श्लोकमें कहा कि 'सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ' और अन्तके उन्तालीसवें श्लोकमें कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह मैं ही हूँ;' क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर

प्राणी नहीं है, चिन्तन करनेके लिये यही विभूतियोंका सार है। तात्पर्य यह है कि किसी विद्वेपता आदिको लेकर जो विभूतियाँ कही गयी हैं उन विभूतियोंके अतिरिक्त भी जो कुछ दिखायी दे, वह भी भगवान्की ही विभूति है—यह बतानेके लिये भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें विद्यमान कहा है। तत्त्वसे सब कुछ परमात्मा ही है—‘वासुदेव सर्वम्’—इस लक्ष्यको बतानेके लिये ही विभूतियाँ कही गयी हैं।

इस बीसवें श्लोकमें भगवान्ने प्राणियोंमें जो आत्मा है, जीवोंका जो स्वरूप है, उसको अपनी विभूति बताया है। फिर पत्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने सृष्टिरूपसे अपनी विभूति बताया कि जो जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम सृष्टि है, उसके आदिमें ‘मै एव ही बहुत रूपोंमें हो जाऊँ’ (‘बहु स्या प्रजायेयेति’ छांदोग्य० ६।२।३) —ऐसा स्वल्प करता हूँ और अन्तमें मैं ही शेष रहता हूँ—‘शिष्यते शेषसह’ (श्रीमद्भा० १०।३।३५)। अतः बीचमें भी सब कुछ मैं ही हूँ—‘वासुदेव सर्वम्’ (गीता ७।१९) ‘सदसचाहमर्जुन’ (गीता ९।१९) क्योंकि जो तत्त्व आदि और अन्तमें होता है, वही तत्त्व बीचमें होता है। अन्तमें उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान्ने बीज (कारण) रूपसे अपनी विभूति बताया कि मैं ही सबका बीज हूँ, मेरे बिना कोई भी प्राणी नहीं है। इस प्रकार इन तीन जगह—तीन श्लोकोंमें मुख्य विभूतियाँ बतायी गयी हैं और अन्य श्लोकोंमें जो समुदायमें मुख्य हैं, जिनका समुदायपर आधिपत्य है, जिनमें कोई विशेषता है, उनको लेकर विभूतियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु साधकको चाहिये कि वह इन



विभूतियोंकी महत्ता, विशेषता, सुन्दरता, आधिपत्य आदिकी तरफ ख्याल न करे, प्रत्युत ये सब विभूतियाँ भगवान्से ही प्रकट होती हैं, इनमें जो महत्ता आदि है, वह केवल भगवान्की है; ये विभूतियाँ भगवत्स्वरूप ही हैं—इस तरफ ख्याल रखे। कारण कि अर्जुनका प्रश्न भगवान्के चिन्तनके विषयमें है ( १० । १७ ) किसी वस्तु, व्यक्तिके चिन्तनके विषयमें नहीं।

‘अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः’—साधक इन विभूतियोंका उपयोग कैसे करे ? इसे बताते हैं कि जब साधककी दृष्टि प्राणियोंकी तरफ चली जाय तो वह ‘सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे भगवान् ही हैं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन करे। जब किसी विचारक साधककी दृष्टि सृष्टिकी तरफ चली जाय तो वह ‘उत्पत्ति-विनाशशील और हरदम परिवर्तनशील सृष्टिके आदि, मध्य तथा अन्तमें एक भगवान् ही हैं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन करे। कभी प्राणियोंके मूलकी तरफ उसकी दृष्टि चली जाय तो वह ‘बीजरूपसे भगवान् ही हैं, भगवान्के बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है और हो सकता भी नहीं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन करे।

श्लोक—

आदित्यनामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।  
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥\*

\* इन विभूतियोंमें षष्ठीका प्रयोग किया गया है। षष्ठीका प्रयोग निर्धारण अर्थात् मुख्यताके अर्थमें भी होता है और सम्बन्धके अर्थमें भी। जहाँ निर्धारणमें षष्ठी होती है, वहाँ हिन्दीकी ‘में’ विभक्तिका प्रयोग

अर्थ—

मैं अदितिके पुत्रोंमें विष्णु ( वामन ) और प्रकाशमान  
बीजोंमें किरणोवाला सूर्य हूँ । मैं मस्तुका तेज और नक्षत्रोंका  
मधिपति चन्द्रमा हूँ ।

व्याख्या—

‘आदित्यानामहं विष्णुः’—अदितिके धाता, मित्र आदि जितने  
पुत्र हैं, उनमें ‘विष्णु’ अर्थात् वामन मुख्य हैं । भगवान् ने ही वामन  
रूपसे अवतार लेकर दैत्योकी सम्पत्तिको दानरूपसे लिया और  
उसे अदितिके पुत्रों ( देवताओं ) को दिला दिया \* ।

‘ज्योतिषां रविरंशुमान्’—चन्द्रमा, नक्षत्र, तारा, अग्नि आदि  
जितनी भी प्रकाशमान चीजें हैं, उनमें किरणोवाला सूर्य मेरी विभूति  
है; क्योंकि प्रकाश करनेमें सूर्यकी मुख्यता है । सूर्यके तेजसे ही  
सभी प्रकाशमान होते हैं ।

‘मरीचिमस्तमस्मि’—सत्त्वज्योति, आदित्य, हरित आदि  
नामोवाचे जो उन्चास मस्त हैं, उनका मुख्य तेज मैं हूँ । उस  
तेजके प्रभावसे ही इन्द्रके द्वारा दितिके गर्भके सात टुकड़े करनेपर  
और उन सातोंके फिर सात-सात टुकड़े करनेपर भी वे मरे नहीं,  
प्रयुत एकसे उन्चास हो गये ।

होता है, और जहाँ सम्यन्वयमें पद्यी होती है, वहाँ हिन्दीकी ‘का’ ‘की’  
विभक्तियोंका प्रयोग होता है । उदाहरणार्थ, इस श्लोकके पूर्वार्धमें निर्धारण-  
के अर्थमें और उत्तरार्धमें सम्यन्वयके अर्थमें पद्यीका प्रयोग हुआ है ।  
\* बारह महीनोंमें जो बारह आदित्य होते हैं, उनमें फार्तिक मासके  
सूर्यका नाम भी ‘विष्णु’ है ।

‘नक्षत्राणामहं शशी’—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ ।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता—महत्ता बतायी गयी है, वास्तवमें भगवान्की है ।

[ इस प्रकरणमें जिन विभूतियोंका वर्णन आया है, तो भगवान्ने विभूतिरूपसे ही कहा है, अवताररूपसे नहीं; जैसे— अदितिके पुत्रोंमें वामन मैं हूँ ( १० । २१ ), शल्यधारियोंमें राम मैं हूँ ( १० । ३१ ), वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव ( कृष्ण ) और पाण्डवोंमें धनञ्जय ( अर्जुन ) मैं हूँ ( १० । ३७ ) इत्यादि । कारण यहाँ प्रसङ्ग विभूतियोंका है । ]

श्लोक—

वेदानां वेदाऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

अर्थ—

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें और प्राणियोंकी चेतना हूँ ।

व्याख्या—

‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’—वेदोंकी जो ऋचाएँ स्वरसहित गायी जाती हैं, उनका नाम सामवेद है । सामवेदमें इन्द्ररूपसे भगवान्की स्तुतिका वर्णन है । इस वास्ते सामवेद भगवान्की विभूति है ।

‘देवानामस्मि वासवः’—सूर्य, चन्द्रमा आदि जितने भी देवता हैं, उन सबमें इन्द्र मुख्य है और सबका अधिपति है ।

वास्ते भगवान्ने उसका अपनो विभूति बताया है। नये अ पापके बीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने 'माम्' पदसे इन्द्रको अपनी विभूति बताया है\* ।

'इन्द्रियाणा मनश्चास्मि'—नेत्र, कान आदि सब इन्द्रियामें मन मुग्य है। सब इन्द्रियां मनके साथ रहनेसे ( मनको साथमें लेकर ) ही काम करती हैं। मन साथमें न रहनेसे इन्द्रिया अपना काम नहीं करती। यदि मनका साथ न हो तो इन्द्रियाके समने विषय आनेपर भी विषयोका ज्ञान नहीं होता। मनमें यह विशेषता भगवान्से हा गया है। इस वास्ते भगवान्ने मनको अपनी विभूति बताया है।

'भूतानामस्मि चेतना'—सम्पूर्ण प्राणिश्रेणी जो चेतना-शक्ति, प्राणशक्ति है, जिससे मरे हुए आदमीकी अपेक्षा सीये हुए आदमीमें प्रिक्रमणा दोखती है, उसे भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता है, यह भगवान्से ही आयी है। इनकी स्वतन्त्र विशेषता नहीं है।

श्लोक—

रुद्राणां शंकरश्चास्मि विशेशो यक्षरक्षसाम् ।  
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिप्यरिणामहम् ॥ २३ ॥

\* त्रैविद्या मा सोमया पूतवापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

( गीता ९। २० )

अर्थ—

रुद्रोंमें शंकर और यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर में हूँ । वसुओंमें पावक ( अग्नि ) और शिखरवाले पर्वतोंमें मेरु में हूँ ।

व्याख्या—

‘रुद्राणां शंकरश्चास्मि’—हर, बहुरूप, त्र्यम्बक आदि ग्यारह रुद्रोंमें शम्भु अर्थात् शंकर सबके अधिपति हैं । ये कल्याण प्रदान करनेवाले और कल्याणस्वरूप हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘वित्तेशो यक्षरक्षसाम्’—कुबेर यक्ष तथा राक्षसोंके अधिपति हैं, और इनको धनाध्यक्ष पदपर नियुक्त किया गया है । सब यक्ष-राक्षसोंमें मुख्य होनेसे ये भगवान्की विभूति हैं ।

‘वसूनां पावकश्चास्मि’—घर, ध्रुव, सोम आदि आठ वसुओंमें अन्नल अर्थात् पावक ( अग्नि ) सबके अधिपति हैं । ये सब देवताओंको यज्ञकी हवि पहुँचानेवाले तथा भगवान्के मुख हैं । इस वास्ते इनको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

‘मेरुः शिखरिणामहम्’—सोने, चाँदी, ताँबे आदिके शिखरों-वाले जितने पर्वत हैं, उनमें सुमेरु पर्वत मुख्य है । यह सोने तथा रत्नोंका भण्डार है । इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

इस श्लोकमें जो चार विभूतियाँ कही हैं, उनमें जो कुछ विशेषता-महत्ता दीखती है, वह विभूतियोंके मूलरूप परमात्मासे ही आयी है । इस वास्ते इन विभूतियोंमें परमात्माका ही चिन्तन होना चाहिये ।

श्लोक—

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।  
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

अर्थ—

हे पार्थ ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो ।  
सेनापतियोमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्’—संसार-  
के सम्पूर्ण पुरोहितोंमें और पिदा-बुद्धिमें बृहस्पति सबसे श्रेष्ठ हैं ये  
इन्द्रके गुरु तथा देवताओंके कुलपुरोहित हैं । इस वास्ते भगवान् ने  
अर्जुनसे बृहस्पतिको अपनी विभूति जानने (मानने) के लिये  
कहा है ।

‘सेनानीनामहं स्कन्दः’—स्कन्द (कार्तिकेय) शंकरजीके  
पुत्र हैं । इनके छः मुख और बारह हाथ हैं । ये देवताओंके सेनापति  
हैं और संसारके सम्पूर्ण सेनापतियोंमें श्रेष्ठ हैं । इस वास्ते भगवान्-  
ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘सरसामस्मि सागरः’—इस पृथ्वीपर जितने जलाशय हैं,  
उनमें समुद्र सबसे बड़ा है । समुद्र सम्पूर्ण जलाशयोंका अधिपति  
है और अपनी मर्यादामें रहनेवाला तथा गम्भीर है । इस वास्ते  
भगवान् ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

यहाँ इन विभूतियोंकी जो अलौकिकता दीखती है, यह उनकी  
खुदकी नहीं है प्रत्युत भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है ।  
इस वास्ते इनको देखनेपर भगवान्की ही स्मृति होनी चाहिये ।

श्लोक—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्येकमक्षरम् ।  
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अर्थ—

महर्षियोंमें भृगु और वाणियोंमें- ( शब्दों- ) में एक अक्षर अर्थात् प्रणव मैं हूँ । सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘महर्षीणां भृगुरहम्’—भृगु, अत्रि, मरीचि आदि महर्षियोंमें भृगुजी बड़े भक्त, ज्ञानी और तेजस्वी हैं । इन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंकी परीक्षा करके भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ सिद्ध किया था । भगवान् विष्णु भी अपने वक्षःस्थलपर इनके चरण-चिह्नको ‘भृगुलता’ नामसे धारण किये रहते हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘गिरामस्येकमक्षरम्’—सबसे पहले तीन मात्रावाला प्रकट हुआ । फिर प्रणवसे त्रिपदा गायत्री, त्रिपदा गायत्रीसे वेद, और वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट । अतः इन सबका कारण होनेसे और इन सबमें श्रेष्ठ होनेसे भगवान्ने एक अक्षर—प्रणवको अपनी विभूति बताया है । गीतामें अन्यत्र भी इसका वर्णन आता है; जैसे—‘प्रणवः सर्ववेदेषु’ ( ७ । ८ )—‘सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव मैं हूँ; ‘ओमित्येकाक्षरं व्याहरन्मामनुसरन् । यः प्रयाति न्देहं स याति परमां गतिम् ॥’

( ८ । १३ ) 'जो मनुष्य ॐ—इस एक अक्षर प्रणमका उच्चारण करके और भगवान्का स्मरण करके शरीर ओढ़कर जाता है, वह परमगतिमें प्राप्त होता है' 'तस्मादोमित्युदाट्य यज्ञदानतप क्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्' ( १७ । २४ ) 'वैदिक ऋषियोंकी शास्त्रनिहित यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ प्रणमका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।'

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'—मन्त्रोंसे जितने यज्ञ क्रिये जाते हैं, उनमें अनेक वस्तु-पदार्थोंकी, विधियोंकी आवश्यकता पड़ती है और उनको करनेमें कुछ-न-कुछ दोष आ ही जाता है । परन्तु जपयज्ञ अर्थात् भगवन्नामका जप करनेमें किसी पदार्थ या विधिकी आवश्यकता नहीं पड़ती । इसको करनेमें दोष आना तो दूर रहा, प्रत्युत सभी दोष नष्ट हो जाते हैं । इसको करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं । भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें भगवान्के नामोंमें अन्तर तो होता है, पर नामजपसे कल्याण होता है—इसको हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि सभी मानते हैं । इस वारते भगवान्ने जपयज्ञको अपनी विभूति बताया है ।

'स्थावराणां हिमालयः'—स्थिर रहनेवाले जितने भी पर्वत हैं, उन सबमें हिमालय तपस्याका स्थल होनेसे महान् पवित्र है और सपत्नी अपिपति है । गंगा, यमुना आदि जितनी तीर्थस्वरूप पवित्र नदियाँ हैं, वे सभी प्रायः हिमालयसे प्रकट होती हैं । भगवत्प्राप्तिमें हिमालय-स्थल बहुत सहायक है । आज भी दीर्घ आयुवाले बड़े-बड़े



योगी और सन्तजन हिमालयकी गुफाओंमें साधन-भजन करते हैं । नर-नारायण ऋषि भी हिमालयमें जगतके कल्याणके लिये आज भी तपस्या कर रहे हैं । हिमालय भगवान् शङ्करका ससुराल है और खयं शङ्कर भी इसीकी एक शिखर—कैलाश पर्वतपर रहते हैं । इस वास्ते भगवान्ने हिमालयको अपनी विभूति बताया है ।

संसारमें जो कुल भी विशेषता दीखती है, उसको संसारकी माननेसे मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन होता है । परन्तु भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहाँ-कहीं और जिस-किसी विशेषताको लेकर आकृष्ट होता है, वहाँ उस विशेषताको तुम मेरी समझो कि यह विशेषता भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है । यह इस परिवर्तनशील नाशवान् संसारकी नहीं है । ऐसा समझोगे, मानोगे तो तुम्हारा वह आकर्षण मेरेमें ही होगा । तुम्हारे मनमें मेरी ही महत्ता हो जायगी । इससे संसारका चिन्तन छूटकर मेरा ही चिन्तन होगा और इससे तुम्हारा मेरेमें प्रेम हो जायगा ।

श्लोक—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।  
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अर्थ—

सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हैं ।

व्याख्या—

‘अश्वत्थ. सर्ववृक्षाणाम्’—पीपल एक सौम्य वृक्ष है। इसके नीचे हर एक पेड़ लग जाता है, और यह पहाड़ मरानकी दीवार, छत आदि कठोर जगहपर भी पैदा हो जाता है। पीपल वृक्षके पूजनकी बड़ी महिमा है। आयुर्वेदमें बहुत से रोगोका नाश करनेकी शक्ति पीपल वृक्षमें बतायी गयी है। इन सब दृष्टियोंसे भगवान्ने पीपलको अपनी विभूति बताया है।

‘देवर्षीणां च नारदः’—देवर्षि भी कई हैं और नारद भी कई हैं, पर ‘देवर्षि नारद’ एक ही हैं, ये भगवान्के मनके अनुसार चलते हैं और भगवान्को जैसी लीला करनी होती है, ये पहलेसे ही वैसी भूमिका तैयार कर देते हैं। इस वास्ते नारदजीको भगवान्का मन कहा गया है। ये सदा वीणा लेकर भगवान्के गुण गाते हुए घूमते रहते हैं। वाल्मीकि और व्यासजीको उपदेश देकर उनको रामायण और भागवत-जैसे ग्रन्थोंके लेखन-कार्यमें प्रवृत्त करानेवाले भी नारदजी ही हैं। नारदजीकी बातपर मनुष्य, देवता, असुर, नाग आदि सभी विश्वास करते हैं। सभी इनकी बातको मानते हैं और इनसे सलाह लेते हैं। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इनके अनेक गुणोंका वर्णन किया गया है। यहाँ भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

‘गन्धर्वाणां चित्ररथः’—स्वर्गके गायकोंको गन्धर्व कहते हैं और उन सभी गन्धर्वोंमें चित्ररथ मुख्य हैं। अर्जुनके साथ इनकी मित्रता रही, और इनसे ही अर्जुनने गान विद्या सीखी थी। गान-

विद्यामें अत्यन्त निपुण और गन्धर्वोंमें मुख्य होनेसे भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘सिद्धानां कपिलो मुनिः’—सिद्ध दो तरहके होते हैं—

एक तो साधन करके सिद्ध बगते हैं और दूसरे जन्मजात सिद्ध होते हैं । कपिलजी जन्मजात सिद्ध हैं और इनको आदिसिद्ध कहा जाता है । ये कर्दमजीके यहाँ देवहूतिके गर्भसे प्रकट हुए थे । ये सांख्यके आचार्य और सम्पूर्ण सिद्धोंके गणाधीश हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

इन सब विभूतियोंमें जो त्रिलक्षणता प्रतीत होती है, वह मूलतः, तत्त्वतः परमात्माकी ही है । इस वास्ते साधककी दृष्टि भगवान्में ही रहनी चाहिये ।

श्लोक—

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।  
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अर्थ—

घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनुष्योंमें राजाको मेरी विभूति मानो ।

व्याख्या—

‘उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्’—समुद्र-मन्थनके समय प्रकट होनेवाले चौदह रत्नोंमें उच्चैःश्रवा घोड़ा भी एक रत्न है । यह इन्द्रका वाहन और सम्पूर्ण घोड़ोंका राजा है । इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

‘ऐरावतं गजेन्द्राणाम्’—हाथियोके समुदायमें जो श्रेष्ठ होता है, उसको गजेन्द्र कहते हैं। ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी श्रेष्ठ है। उच्चैःश्रवा घोड़ेकी तरह ऐरावत हाथीकी उत्पत्ति भी समुद्रसे हुई है और यह भी इन्द्रका वाहन है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘नराणां च नराधिपम्’—सम्पूर्ण प्रजाका पालन, संरक्षण, शासन करनेवाला होनेसे राजा सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा राजामें भगवान्की ज्यादा शक्ति रहती है। इस वास्ते भगवान्ने राजाको अपनी विभूति बताया है\*।

इन विभूतियोंमें जो बलवत्ता, सामर्थ्य है, यह भगवान्से ही आयी है। इस वास्ते इसको भगवान्की ही मानकर भगवान्का चिन्तन करना चाहिये।

श्लोक—

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामसि कामधुक् ।  
प्रजनश्चासि कन्दर्पः सर्पाणामसि वासुकिः ॥ २८ ॥

अर्थ—

आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। सन्तान-उत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ।

व्याख्या—

‘आयुधानामहं वज्रम्’—जिनसे युद्ध किया जाता है, उनको आयुध ( अस्त्र-शस्त्र ) कहते हैं। उन आयुधोंमें इन्द्रका वज्र मुख्य

● यहाँ वर्तमान मन्वन्तरके मनुष्यो भी राजा मान सकते हैं।

है। यह दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे बना हुआ है और इसमें दधीचि ऋषिकी तपस्याका तेज है। इस वास्ते भगवान्ने वज्रको अपनी विभूति कहा है।

‘धेनूनामस्मि कामधुक’—नयी व्यायी हुई गायको धेनु कहते हैं। सभी धेनुओंमें कामधेनु मुख्य है, जो समुद्र-मन्थनसे प्रकट हुई थी। यह सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंकी कामनापूर्ति करनेवाली है। इस वास्ते यह भगवान्की विभूति है।

‘स्मि कन्दर्पः’—संसारमात्रकी उत्पत्ति कामसे ही होती है। धर्मके अनुकूल केवल सन्तानकी उत्पत्तिके लिये सुखबुद्धिका त्याग करके जिस कामका उपयोग किया जाता है, वह काम भगवान्की विभूति है। सातवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी भगवान्ने कामको अपनी विभूति बताया है—‘धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ’ अर्थात् सब प्राणियोंमें धर्मके अनुकूल काम मैं हूँ।

‘सर्पाणामस्मि व किः’—वासुकि सम्पूर्ण सर्पोंके अधिपति और भगवान्के भक्त हैं। समुद्र-मन्थनके समय इन्हींकी मन्थन-डोरी बनायी गयी थी। इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विलक्षणता दिखायी देती है, यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसारकी हो ही कैसे सकती है ! यह तो परमात्माकी ही है।

श्लोक—

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।  
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अर्थ—

नागोंमें अनन्त ( शेषनाग ) और जल-जन्तुओंका अधिपति वरुण मैं हूँ । पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘अनन्तश्चास्मि नागानाम्’—शेषनाग सम्पूर्ण नागोंके राजा हैं\* ।

इनके एक हजार फण हैं । ये क्षीरसागरमें सदा भगवान्की शय्या बनकर भगवान्को सुख पहुँचाते रहते हैं । ये अनेक बार भगवान्के साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें शामिल हुए हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘वरुणो यादसामहम्’—वरुण सम्पूर्ण जल-जन्तुओंके तथा जल-देवताओंके अधिपति हैं और भगवान्के भक्त हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘पितृणामर्यमा चास्मि’—ऋषयः, अन्न, सोम आदि सात पितृगण हैं । इन सबमें अर्यमा नामवाले पितर मुख्य हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘यमः संयमतामहम्’—प्राणियोंपर शासन करनेवाले राजा आदि जितने भी अधिकारी हैं, उनमें यमराज मुख्य हैं । ये प्राणियोंको उनके पाप-पुण्योका फल भुगताकर शुद्ध करते हैं । इनका शासन

\* सर्प पृथ्वीपर रहता है और नाग जन्ममें रहता है—यही सर्प और नागोंमें अन्तर ।

न्याय और धर्मपूर्वक होता है। ये भगवान्‌के भक्त और लोकपाल भी हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विलक्षणता दीखती है, वह इनकी व्यक्तिगत कैसे हो सकती है? वह तो भगवान्‌से ही आयी है और भगवान्‌की ही है। इस वास्ते इनमें भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये।

श्लोक—

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।  
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—

दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंमें काल मैं हूँ। पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ।

व्याख्या—

‘प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्’—जो दितिसे उत्पन्न हुए हैं, उनको दैत्य कहते हैं। उन दैत्योंमें प्रह्लाद मुख्य हैं और श्रेष्ठ हैं। ये भगवान्‌के परम विश्वासी और निष्काम प्रेमी भक्त हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

प्रह्लादजी तो बहुत पहले हो चुके थे, पर भगवान्‌ने ‘दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ’ ऐसा वर्तमानका प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌के भक्त नित्य रहते हैं और श्रद्धा-भक्तिके अनुसार दर्शन भी दे सकते हैं। उनके भगवान्‌में लीन हो जानेके बाद अगर कोई उनको याद करता है और उनके दर्शन चाहता है, तो उनका रूप धारण करके भगवान्‌ दर्शन देते हैं।

‘कालः कलयतामहम्’—ज्योतिष-शास्त्रमें काल ( समय-) से ही आयुकी गणना होती है । इस वास्ते क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि गणना करनेके साधनोमे काल भगवान्की विभूति है ।

‘मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्’—बाघ, हाथी, चीना, रीछ, आदि जितने भी पशु है, उन सबमें सिंह बलवान्, तेजस्वी, प्रभावशाली, शूरवीर और साहसी है । यह सब पशुओंका राजा है । इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

‘वैनतेयश्च पक्षिणाम्’—विनताके पुत्र गरुड़जी सम्पूर्ण पक्षियों-के राजा हैं । ये भगवान्के भक्त हैं । ये भगवान् विष्णुके वाहन हैं और जब ये उड़ते हैं, तब इनके पंखोसे स्वतः सामवेदकी ऋचाएँ ध्वनित होती हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

इन सब विभूतियोंमें अलग-अलग रूपसे जो मुख्यता बतायी गयी है, वह तत्त्वतः भगवान्की ही है । इस वास्ते इनकी ओर दृष्टि जाते ही स्वतः भगवान्का चिन्तन होना चाहिये ।

श्लोक—

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।  
झपाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

अर्थ—

पवित्र करनेवालोमें वायु और शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ ।  
जल-जन्तुओंमें मगर मैं हूँ । बहनेवाले स्रोतोमें गङ्गाजी मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘पवनः पवतामस्मि’—वायुसे ही सब चीजें पवित्र होती हैं ।



वायुसे ही नीरोगता आती है। इस वास्ते पवित्र करनेवालोंमें भगवान्‌ने वायुको अपनी विभूति बताया है।

‘रामः शस्त्रभृतामहम्’—ऐसे तो राम अवतार हैं, साक्षात् भगवान्‌, पर जहाँ शस्त्रधारियोंकी गणना होती है, उन सबमें राम श्रेष्ठ हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने रामको अपनी विभूति बताया है।

‘गां मकरश्चास्मि’—जल-जन्तुओंमें मगर सबसे बलवान्‌ है। इस वास्ते जलचरोमें मगरको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

‘स्रोतसामस्मि जाह्नवी’—प्रवाहरूपसे बहनेवाले जितने भी नद, नदी, नाले, झरने हैं, उन सबमें गङ्गाजी श्रेष्ठ हैं। यह भगवान्‌का खास चरणोदक है। गङ्गाजी अपने दर्शन, स्पर्श आदिसे दुनियाका उद्धार करनेवाली हैं। मरे हुए मनुष्योंकी अस्थियाँ गङ्गाजीमें डालनेसे उनकी सद्गति हो जाती है। इस वास्ते भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

वास्तवमें इन विभूतियोंकी मुख्यता न मानकर भगवान्‌की ही मुख्यता माननी चाहिये। कारण कि इन सबमें जो विशेषता-महत्ता देखनेमें आती है, वह भगवान्‌से ही आयी है।

सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनके दो प्रश्न हैं—पहला भगवान्‌को जाननेका ( मैं आपको कैसे जानूँ ) और दूसरा, जाननेके उपायका ( किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ )। इन दोनोंमेंसे उपाय तो है— विभूतियोंमें भगवान्‌का चिन्तन करना और उस चिन्तनका फल ( नतीजा ) होगा—सब विभूतियोंके मूलमें भगवान्‌को तत्त्वसे जानना। जैसे, शस्त्रधारियोंमें श्रीरामको और वृष्णियोंमें वासुदेव ( अपने- ) को

भगवान् ने अपनी विभूति बताया। यह तो उस समुदायमें विभूतिरूपसे श्रीरामका और वासुदेवका चिन्तन करनेके लिये बताया और उनके चिन्तनका फल होगा—श्रीरामको और वासुदेवको तत्त्वसे भगवान् जान जाना। यह चिन्तन करना और भगवान् को तत्त्वसे जानना सभी विभूतियोंके विषयमें समझना चाहिये।

ससारमें जहाँ-कहीं भी जो कुछ विशेषता, मिलक्षणता, सुन्दरता दीखती है, उसको वस्तु-व्यक्तिकी माननेसे फँसावट होती है अर्थात् मनुष्य उस विशेषता आदिको ससारकी मानकर उसमें फँस जाता है। इस वास्ते भगवान् ने यहाँ मनुष्यमात्रके लिये यह बताया है कि तुमलोग उस विशेषता, सुन्दरता आदिको वस्तु-व्यक्तिका मन मानो। प्रत्युत मेरी और मेरेसे ही आयी हुई मानो। ऐसा मानकर मेरा चिन्तन करोगे तो तुम्हारा ससारका चिन्तन तो छूट जायगा और उस जगह में आ जाऊँगा। इसका नतीजा ( परिणाम ) यह होगा कि तुमलोग मेरेको तत्त्वसे जान जाओगे। मेरेको तत्त्वसे जाननेपर मेरेमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति हो जायगी ( गीता १० । ७ )।

श्लोक—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।  
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवक्ष्यामहम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका ( तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला ) वाद मैं हूँ।

व्याख्या—

‘सर्गाणामद्विरन्तश्च मध्यं चैवाहम्’—जितने सर्ग और महासर्ग होते हैं अर्थात् जितने प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, उनके आदिमें मैं रहता हूँ, उनके मध्यमें मैं रहता हूँ और उनके अन्तमें ( उनके लीन होनेपर ) भी मैं रहता हूँ । तात्पर्य है कि सब कुछ वासुदेव ही है । अतः मात्र संसारको, प्राणियोंको देखते ही भगवान्की याद आनी चाहिये ।

‘अध्यात्मविद्या विद्यानाम्’—जिस विद्यासे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, वह ‘अध्यात्मविद्या’ कहलाती है\* । दूसरी सांसारिकी कितनी ही विद्या पढ़ लेनेपर भी पढ़ना बाकी ही रहता है; परन्तु इस अध्यात्मविद्याके प्राप्त होनेपर पढ़ना अर्थात् जानना बाकी नहीं रहता—‘यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते’ ( गीता ७।२ ) वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

‘वादः प्रवदतामहम्’—आपसमें जो शास्त्रार्थ किया जाता है, तीन प्रकारका होता है—

( १ ) जल्प—युक्ति-प्रयुक्तिसे अपने पक्षका मण्डन और दूसरे पक्षका खण्डन करके अपने पक्षकी जीत और दूसरे पक्षकी हार

\* अध्यात्मविद्या और राजविद्या—इन दोनोंमें अन्तर है । अध्यात्म-विद्यामें निर्गुण-स्वरूपकी मुख्यता है और राजविद्यामें सगुण-स्वरूपकी मुख्यता है । संसारका अभाव करके निर्गुण परमात्माको जानना अध्यात्म-विद्या है । सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमें व्यापकरूपसे नित्य-निरन्तर रहनेवाले सगुण परमात्माको जानना राजविद्या है ।

करनेकी भावनासे जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको 'जल्प' कहते हैं ।

( २ ) वितण्डा—अपना कोई भी पक्ष न रखकर केवल दूसरे पक्षका खण्डन ही-खण्डन करनेके लिये जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको 'वितण्डा' कहते हैं ।

( ३ ) वाद—जिना किसी पक्षपातके केवल तरज-निर्णयके लिये आपसमें जो शास्त्रार्थ ( विचार-विनिमय ) किया जाता है, उसको 'वाद' कहते हैं ।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके शास्त्रार्थमें 'वाद' श्रेष्ठ है । इसी वादको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

श्लोक—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।  
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अर्थ—

अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ । अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला धाता भी मैं हूँ ।

व्याख्या—

'अक्षराणामकारोऽस्मि'—वर्णमालामें सर्वप्रथम अकार आता है । स्वर और व्यञ्जन—दोनोंमें अकार मुख्य है । अकारके बिना व्यञ्जनोंका उच्चारण नहीं होता । इस वास्ते अकारको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

‘द्वन्द्वः सामासिकस्य च’—जिससे दो या दोसे अधिक शब्दों-को मिलाकर एक शब्द बनता है, उसको समास कहते । समास कई तरहके होते हैं । उनमें अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व—ये चार मुख्य हैं । दो शब्दोंके समासमें यदि पहला शब्द प्रधानता रखता है तो वह ‘अव्ययी-भाव समास’ होता है । यदि आगेका शब्द प्रधानता रखता है तो वह ‘तत्पुरुष समास’ होता है । यदि दोनों शब्द अन्यके वाचक होते हैं तो वह ‘बहुव्रीहि समास’ होता है । यदि दोनों शब्द प्रधानता रखते हैं तो वह ‘द्वन्द्व समास’ होता है ।

द्वन्द्व समासमें दोनों शब्दोंका अर्थ मुख्य होनेसे भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

‘अहमेवाक्षयः कालः’—जिस कालका कभी क्षय नहीं होता अर्थात् जो कालातीत है और अनादि-अनन्तरूप है, वह काल भगवान् ही हैं ।

सर्ग और प्रलयकी गणना तो सूर्यसे होती है, पर महा-प्रलयमें जब सूर्य भी लीन हो जाता है, तब समयकी गणना परमात्मासे ही होती है \* । इस वास्ते परमात्मा अक्षय काल हैं ।

\* महाप्रलयमें ब्रह्माजी लीन हो जाते हैं ! महासर्गका अर्थात् ब्रह्माजीकी उमरका जितना समय होता है, उतना ही समय महाप्रलयका होता है । अतः इतने लम्बे ( महाप्रलयके ) समयकी गणना अक्षयकाल-रूप परमात्मासे ही होती है ।

तीसवें श्लोकके 'कालः कलयतामहम्' पदोंमें आये 'काल'-में और यहाँ आये 'अक्षय काल'में क्या अन्तर है ? यहाँका जो 'काल' है, वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, बदलता रहता है। यह काल ज्योतिषशास्त्रका आधार है और उसीसे सप्तारमात्रके समयकी गणना होती है। यहाँका जो 'अक्षय काल' है, वह परमात्मस्वरूप होनेसे कभी बदलता नहीं। वह अक्षय काल सत्रको खा जाता है और स्वयं ज्यों-का-त्यों ही रहता है, अर्थात् उसमें कभी कोई प्रकार नहीं होता। उसी अक्षय कालको यहाँ भगवान्ने अपनी विभूति बताया है। आगे ग्यारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने 'कालोऽस्मि' ( ११ । ३२ ) पदसे अक्षय कालको अपना स्वरूप बताया है।

'धाताहं विश्वतोमुखः'—सत्र ओर मुखगले होनेसे भगवान्की दृष्टि सभी प्राणियोंपर रहती है। इस वास्ते सत्रका धारण-पोषण करनेमें भगवान् बहुत सावधान रहते हैं। किस प्राणीको कौन-सी वस्तु कब मिलनी चाहिये, इसका भगवान् खूब ख्याल रखते हैं और समयपर उस वस्तुको पहुँचा देते हैं। इसलिये भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है।

श्लोक—

मृत्यु सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

अर्थ—

सत्रका हरण करनेवाली मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उद्भव मैं हूँ। स्त्रीजातिमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।

व्याख्या—

‘मृत्युः सर्वहरश्चाहम्’ मृत्युमें हरण करनेकी ऐसी विलक्षण सामर्थ्य है कि मृत्युके बाद यहाँकी स्मृतितक नहीं रहती, सब कुछ अपहृत हो जाता है । वास्तवमें यह सामर्थ्य मृत्युकी नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी है ।

अगर सम्पूर्णका हरण करनेकी, विस्मृत करनेकी भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य मृत्युमें न होती तो अपनेपनके सम्बन्धको लेकर जैसी चिन्ता इस जन्ममें मनुष्यको होती है, वैसी ही चिन्ता पिछले जन्मके सम्बन्धको लेकर भी होती । मनुष्य न जाने कितने जन्म ले चुका है । अगर उन जन्मोंकी याद रहती तो मनुष्यकी चिन्ताओंका, उसके मोहका कमी अन्त आता ही नहीं । परन्तु मृत्युके द्वारा विस्मृति होनेसे पूर्वजन्मोंके कुटुम्ब, सम्पत्ति आदिकी चिन्ता नहीं होती । इस तरह मृत्युमें जो चिन्ता, मोह मिटानेकी सामर्थ्य है, वह सब भगवान्की ही है ।

‘उद्भवश्च भविष्यताम्’—जैसे पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि सबका धारण-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ, वैसे ही यहाँ बताते हैं कि सब उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका हेतु भी मैं ही हूँ । तात्पर्य है कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला मैं ही हूँ ।

‘कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा’—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों संसारभरकी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं । इनमेंसे कीर्ति, स्मृति, मेधा, धृति और

क्षमा—ये पाँच प्रजापति दक्षकी कन्याएँ हैं, 'श्री' महर्षि भृगुकी कन्या है, और 'गक्' ब्रह्माजीकी कन्या है ।

कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों क्षीराचक नामवाले गुण भी संसारमें प्रसिद्ध हैं । सदगुणोंको लेकर संसारमें जो प्रसिद्धि है, प्रतिष्ठा है, उसको 'कीर्ति' कहते हैं ।

स्थान और जङ्गम—यह दो प्रकारका ऐश्वर्य होता है । जमीन, मकान, धन, सम्पत्ति आदि स्थान ऐश्वर्य है; और गाय, भैंस, घोड़ा ऊँट, हाथी आदि जङ्गम ऐश्वर्य हैं । इन दोनों ऐश्वर्योंको 'श्री' कहते हैं ।

जिस वाणीको धारण करनेसे संसारमें यश-प्रतिष्ठा होती है और जिससे मनुष्य पण्डित, विद्वान् कहलाता है, उसको 'गक्' कहते हैं ।

पुरानी सुनी-समझी बातकी फिर याद आनेका नाम 'स्मृति' है ।

बुद्धिकी जो स्थायीरूपसे धारण करनेकी शक्ति है अर्थात् जिस शक्तिसे विद्या ठीक तरहसे याद रहती है, उस शक्तिका नाम 'मेधा' है ।

मनुष्यको अपने सिद्धान्त, मान्यता आदिपर डटे रखने तथा उनसे विचलित न होने देनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है ।

दूसरा कोई विना कारण अपराध कर दे, तो अपनेमें दण्ड देनेकी शक्ति होनेपर भी उसे दण्ड न देना और उसे लोक-परलोकमें कहीं भी उस अपराधका दण्ड न मिले—इस तरहका भाव रखते हुए उसे माफ कर देनेका नाम 'क्षमा' है ।



कीर्ति, श्री और वाक्—ये तीन प्राणियोंके बाहर प्रकट होने-वाली विशेषताएँ हैं तथा स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये चार प्राणियोंके भीतर प्रकट होनेवाली विशेषताएँ हैं । इन सातों विशेषताओंको भगवान् ने अपनी विभूति बताया है ।

यहाँ जो विशेष गुणोंको विभूतिरूपसे कहा है, उसका तात्पर्य केवल भगवान् की तरफ लक्ष्य करानेमें है । जिस व्यक्तिमें ये गुण दिखायी दें, उस व्यक्तिकी विशेषता न मानकर भगवान् की ही विशेषता माननी चाहिये और भगवान् की ही याद आनी चाहिये । यदि ये गुण अपनेमें दिखायी दें तो इनको भगवान् के ही मानने चाहिये, अपने नहीं । कारण कि यह दैवी- ( भगवान् की ) सम्पत्ति है, जो भगवान् से ही प्रकट हुई है । इन गुणोंको अपना मान लेनेसे अभिमान पैदा होता है, जिससे पतन हो जाता है; क्योंकि अभिमान सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका जनक है ।

साधकोंको जिस-किसीमें जो कुछ विशेषता, सामर्थ्य दोखे, उसे उस वस्तु-व्यक्तिका न मानकर भगवान् का ही मानना चाहिये । जैसे, लोमश ऋषिके शापसे काकभुशुण्डि ब्राह्मणसे चाण्डाल पक्षी बन गये, पर उनको न भय हुआ, न किसी प्रकारकी दीनता आयी और न कोई विचार ही हुआ, प्रत्युत उनको खुशी ही हुई । कारण कि उन्होंने इसमें ऋषिका दोष न मानकर भगवान् की प्रेरणा ही मानी—सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूपन । उर प्रेरक रघुवंस विभूपन ॥ ( मानस ७ । ११२ । १ ) । ऐसे ही मनुष्य सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके मूलमें भगवान् को देखने लगे तो हर समय आनन्द-ही-आनन्द रहेगा ।

श्लोक—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।  
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अर्थ—

गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और वेदोके छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ । बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छ. ऋतुओंमें वसन्त में हूँ ।

व्याख्या—

‘बृहत्साम तथा साम्नाम्’—सामवेदमें ‘बृहत्साम’ नामक एक गीति है । इसके द्वारा इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है । अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है । सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे इस बृहत्सामको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है\* ।

‘गायत्री छन्दसामहम्’—वेदोकी जितनी छन्दोवद्ध ऋचाएँ हैं उनमें गायत्रीकी मुख्यता है । गायत्रीको वेद-जननी कहते हैं; क्योंकि इसीसे वेद प्रकट हुए हैं । स्मृतियों और शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है । गायत्रीमें स्वरूप, प्रार्थना और ध्यान—तीनों परमात्माके ही होनेसे इससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है । इस वास्ते भगवान्ने गायत्रीको अपनी विभूति बताया है ।

‘मासानां मार्गशीर्षोऽहम्’—जिस अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जीवित रहती है, उस ( वर्षासे होनेवाले ) अन्नकी उत्पत्ति मार्गशीर्ष

\* इस ( दसवें ) अध्यायके बाइसवें श्लोकमें भगवान्ने वेदोंमें ‘सामवेद’ को अपनी विभूति बताया है, और यहाँ पैंतीसवें श्लोकमें भगवान्ने सामवेदमें भी ‘बृहत्साम’ को अपनी विभूति बताया है ।

महीनेमें होती है । इस महीनेमें नये अन्नसे यज्ञ भी किया जाता है । महाभारत-कालमें नया वर्ष मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होता था । इन विशेषताओंके कारण भगवान्ने मार्गशीर्षको अपनी विभूति बताया है ।

**‘ऋतूनां माकरः’**—वसन्त ऋतुमें विना वर्षाके ही वृक्ष, लता आदि पत्र-पुष्पोंसे युक्त हो जाते हैं । इस ऋतुमें न अधिक गरमी रहती है और न अधिक सरदी । इस वास्ते भगवान्ने वसन्त ऋतुको अपनी विभूति कहा है ।

इन सब विभूतियोंमें जो महत्ता, विशेषता दीखती है, वह केवल भगवान्की ही है । इस वास्ते चिन्तन केवल भगवान्का ही होना चाहिये ।

श्लोक—

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—

करनेवालोंमें जूआ और तेजस्त्रियोंमें तेज मैं हूँ । जीतनेवालोंकी विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक-पुरुषोंका सात्त्विक भाव मैं हूँ ।

व्याख्या—

**‘द्यूतं छलयतामस्मि’**—छल करके दूसरोंके राज्य, वैभव, धन, सम्पत्ति आदिका ( सर्वस्वका ) अपहरण करनेकी विशेष सामर्थ्य रखनेवाली जो विद्या है, उसको जूआ कहते हैं । इस जूआको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

शङ्का—यहाँ भगवान् ने छल करनेवालोंमें जूएको अपनी विभूति बताया है तो फिर इसमें खेलनेमें क्या दोष है ? अगर दोष नहीं है तो फिर शास्त्रोंने इसका निषेध क्यों किया है ?

समाधान—‘ऐसा करो ओर ऐसा मन करो’—यह शास्त्रोंका निषि-निषेध कहलाना है । ऐसे निषि-निषेधका वर्णन यहाँ नहीं है । यहाँ तो विभूतियोंका वर्णन है । ‘मे आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करूँ ?’—अर्जुनके इस प्रश्नके अनुसार भगवान् ने विभूतियोंके रूपमें अपने चित्तका वन हा वन ग हे अर्थात् भगवान् का चिन्तन मुझसे हो जाय, इसका उपाय विभूतियोंके रूपमें बताया है । इस वास्ते जिस समुदायमें मनुष्य रहता है, उस समुदायमें जहाँ दृष्टि पड़े, वहाँ संसारको न देखकर भगवान् को ही देखे, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरेसे व्याप्त है अर्थात् इस जगत्में मैं ही व्याप्त हूँ, परिपूर्ण हूँ ( गीता ९ । ४ ) ।

जैसे किसी साधकका पहले जूआ खेलनेका व्यसन रहा हो और अब वह भगवान् के भजनमें लगा है । उसको कभी जूआ याद आ जाय तो उस जूएका चिन्तन छोड़नेके लिये वह उसमें भगवान् का चिन्तन करे कि इस जूएके खेलमें हार-जीतकी जो विशेषता है, वह भगवान् की ही है । इस प्रकार जूएमें भगवान् को देखनेसे जूएका चिन्तन तो छूट जायगा और भगवान् का चिन्तन होने लगेगा । ऐसे ही किसी दूसरेको जूआ खेलने देखा ओर उसमें हार-जीतकी देखा, तो हराने ओर जितानेकी शक्तिको जूएकी ब मानकर भगवान् की ही माने । कारण कि खेल तो समाप्त हो रहा ।

है और समाप्त हो जायगा, पर परमात्मा उसमें निरन्तर रहते हैं और रहेंगे । इस प्रकार जूआ आदिको विभूति कहनेका तात्पर्य भगवान्‌के चिन्तनमें है\* ।

‘तेजस्तेजस्विनामहम्’†—महापुरुषोंके उस दैवी-सम्पत्तिवाले-प्रभावका नाम तेज है, जिसके सामने पापी पुरुष भी पाप करनेमें हिचकते हैं । इस तेजको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है ।

‘जयोऽस्मि’—विजय प्रत्येक प्राणीको प्रिय लगती है । विजयकी यह विशेषता भगवान्‌की है । इस वारते विजयको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है ।

अपने मनके अनुसार अपनी विजय होनेसे जो सुख होता है, उसका उपभोग न करके उसमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये कि विजयरूपसे भगवान्‌ आये हैं ।

‘व्यवसायोऽस्मि’—व्यवसाय नाम एक निश्चयका है । इस एक निश्चयकी भगवान्‌ने गीतामें बहुत महिमा गायी है; जैसे—कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है—‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह’(२ । ४१); भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त पुरुषोंकी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती—‘भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथापहृतचेतसाम् ।

\* किसी ग्रन्थके किसी अंशपर शङ्का हो, तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्यको, लक्ष्यको और आशयको समझनेसे उस शङ्काका समाधान हो जाता है ।

† सातवें अध्यायमें जहाँ भगवान्‌ने कारणरूपसे विभूतियोंका वर्णन किया है, वहाँ भी यही पद आया है—‘तेजस्ते जारवनामहम्’ ( ७ । १० ) ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥' (०।४४)  
 'अब तो मैं केवल भगवान्‌का भजन ही करूँगा'—इस  
 एक निश्चयके बल्पर दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्यों भी भगवान् साधु  
 बनाते हैं—'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्यवसितो हि स'  
 (०।३०)। इस प्रकार भगवान्‌की तरफ चटनेवा जो निश्चय  
 है, उसको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

निश्चयको अपनी विभूति बतानेका तात्पर्य है कि साधकको  
 ऐसा निश्चय तो रखना ही चाहिये, पर इसको अपना गुण  
 नहीं मानना चाहिये, प्रयुक्त ऐसा मानना चाहिये कि यह भगवान्‌की  
 विभूति है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है।

'सत्त्व सत्त्ववतामहम् — सात्त्विक पुरुषोंमें जो सत्त्वगुण है, जो  
 सात्त्विक भाव और आचरण है, वह भी भगवान्‌की विभूति है।  
 तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुणको दबाकर जो सात्त्विक भाव  
 बढ़ता है, उस सात्त्विक भावको साधक अपना गुण न मानकर भगवान्‌की  
 विभूति माने।

तेज, व्यक्त्याय, सात्त्विक भाव आदि अपनेमें अपना ओरोमें  
 देखनेमें आयें तो साधक इनको अपना अथवा किसी वस्तु-व्यक्तिका  
 गुण न माने, प्रयुक्त भगवान्‌का ही गुण माने। उन गुणोंकी  
 तरफ दृष्टि जानेपर उनमें तत्परत भगवान्‌को देखकर भगवान्‌को  
 ही याद करना चाहिये।

श्लोक—

घृष्णीना वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जय ।  
 मुनीनामप्यहं व्यास कवीनामुशना कवि ॥ ३७ ॥

अर्थ—

वृष्णिवंशियोंमें वसुदेव और पाण्डवोंमें धनंजय मैं हूँ ।  
मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य भी मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि’—यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका वर्णन नहीं है, प्रश्रुत वृष्णिवंशियोंमें जो विशेषता है, उस विशेषताको लेकर भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है ।

यहाँ भगवान्का अपनेको विभूतिरूपसे कहना तो संसारकी दृष्टिसे है, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वे साक्षात् भगवान् ही हैं । इस अध्यायमें जितनी विभूतियाँ आयी हैं, वे सब संसारकी दृष्टिसे ही हैं । तत्त्वतः तो वे सभी परमात्मस्वरूप ही हैं ।

‘पाण्डवानां धनञ्जयः’—पाण्डवोंमें अर्जुनकी जो विशेषता है, वह विशेषता भगवान्की ही है । इस वास्ते भगवान्ने अर्जुनको अपनी विभूति बताया है ।

‘मुनीनामप्यहं व्यासः’—वेदका चार भागोंमें त्रिभाग, पुराण, उपपुराण, महाभारत आदि जो कुछ संस्कृत-ब्राह्मण्य है, वह सब-का-सब व्यासजीकी कृपाका ही फल है । आज भी कोई नया रचना करता है तो उसे भी व्यासजीका ही उच्छिष्ट माना जाता है । कहा भी है—‘व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्’ । इस तरह सब मुनियोंमें व्यासजी मुख्य हैं । इस वास्ते भगवान्ने व्यासजीको अपनी विभूति बताया है । तात्पर्य है कि व्यासजीमें विशेषता देखते ही भगवान्को याद आनी चाहिये कि यह सब विशेषता भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है ।

‘ऋचीनामुशाना कविः’—शास्त्रीय सिद्धान्तोंको टीका तरहसे जाननेवाले जितने भी पण्डित हैं, वे सभी ‘ऋषि’ कहलाते हैं। उन सब कवियोंमें शुक्राचार्य मुख्य हैं। शुक्राचार्यजी संजीवनी त्रिधाके जानकार हैं। इनकी शुक्रनीति प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनेक गुणोंके कारण भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंकी महत्ता देखकर कहीं भी बुद्धि अटके, तो उस महत्ताको भगवान्की ही माननी चाहिये; क्योंकि वह महत्ता एक क्षण भी स्थायीरूपसे न टिकनेवाले संसारकी नहीं हो सकती।

श्लोक—

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।  
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—

दमन करनेवालोंमें दण्डनीति और विजय चाहनेवालोंमें नीति में हैं। गोपनीय भावमें मौन और ज्ञानवानोंमें ज्ञान में हैं।

व्याख्या—

‘दण्डो दमयतामस्मि’—दुष्टोंको दृष्टतासे बचाकर मन्मार्गपर लानेके लिये दण्डनीति मुख्य है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘नीतिरस्मि जिगीषताम्’—नीतिको आश्रय लेनेमें ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है और नीतिसे ही विजय उहरी है। इस वास्ते नीतिको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।



अर्थ—

वृष्णिवंशियोंमें वसुदेव और पाण्डवोंमें धनञ्जय में हूँ ।  
मुनियोंमें वेदव्यास और कविओंमें शुक्राचार्य भी मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि’—यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका वर्णन नहीं है, प्रस्युत वृष्णिवंशियोंमें जो विशेषता है, उस विशेषताको लेकर भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है ।

यहाँ भगवान्का अपनेको विभूतिरूपसे कहना तो संसारकी दृष्टिसे है, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वे साक्षात् भगवान् ही हैं । इस अध्यायमें जितनी विभूतियाँ आयी हैं, वे सब संसारको दृष्टिसे ही हैं । तत्त्वतः तो वे सभी परमात्मस्वरूप ही हैं ।

‘पाण्डवानां धनञ्जयः’—पाण्डवोंमें अर्जुनकी जो विशेषता है, वह विशेषता भगवान्की ही है । इस वास्ते भगवान्ने अर्जुनको अपनी विभूति बताया है ।

‘मुनीनामप्यहं व्यासः’—वेदका चार भागोंमें विभाग, पुराण, उपपुराण, महाभारत आदि जो कुछ संस्कृत-वाङ्मय है, वह सब-का-सब व्यासजीकी कृपाका ही फल है । अज भी कोई नया रचना करता है तो उसे भी व्यासजीका ही उच्छिष्ट माना जाता है । कहा भी है—‘व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्’ । इस तरह सब मुनियोंमें व्यासजी मुख्य हैं । इस वास्ते भगवान्ने व्यासजीको अपना विभूति बताया है । तात्पर्य है कि व्यासजीमें विशेषता दोखते ही भगवान्को याद आनी चाहिये कि यह सब विशेषता भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है ।

‘कधीनामुदाना कविः’—शास्त्रीय सिद्धान्तोंको ठीक तरहसे जाननेवाले जिनने भी पण्डित हैं, वे सभी ‘कवि’ कहलाते हैं। उन सब कवियोंमें शुक्राचार्य मुख्य हैं। शुक्राचार्यजी संजीवनी विद्याके जानकार हैं। इनकी शुकनीति प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनेक गुणोंके कारण भगवान्ने इनको अपनी विभूति बनाया है।

इन विभूतियोंकी महत्ता देखकर कहीं भी बुद्धि अटके, तो उस महत्ताको भगवान्की ही माननी चाहिये; क्योंकि वह महत्ता एक क्षण भी स्थायीरूपसे न टिकनेवाले संसारकी नहीं हो सकती।

श्लोक—

दण्डो दमयतामस्मि नीनिरस्मि जिगीषताम्।  
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—

दमन करनेवालोंमें दण्डनीति और विजय चाहनेवालोंमें नीति में हैं। गोपनीय भागोंमें मौन और ज्ञानवालोंमें ज्ञान में हैं।

व्याख्या—

‘दण्डो दमयतामस्मि’—दुष्टोंको दृष्टनासे वचाकर मन्मार्गपर लानेके लिये दण्डनीति मुख्य है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बनाया है।

‘नीतिरस्मि जिगीषताम्’—नीतिको आश्रय लेनेमें ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है और नीतिसे ही विजय उहरती है। इस वास्ते नीतिको भगवान्ने अपनी विभूति बनाया है।

‘मौनं\* चैवास्मि गुह्यानाम्’—गुप्त रखनेयोग्य जितने भाव हैं, उन सबमें मनन करना मुख्य है। मनन करनेमें भी परमात्माका मनन करना मुख्य है, क्योंकि परमात्माका मनन करनेसे ही असली तत्त्वका ज्ञान होता है। इस वास्ते गोपनीय भावोंमें भगवान्ने मौनको अपनी विभूति बताया है।

‘ज्ञानं ज्ञानवतामहम्’—संसारमें कला-कौशल आदिको जानने-वालोंमें जो ज्ञान ( जानकारी ) है, वह भगवान्की विभूति है। तात्पर्य है कि ऐसा ज्ञान अपनेमें और दूसरोंमें देखनेमें आये, तो इसे भगवान्की ही विभूति माने।

इन सब विभूतियोंमें जो विलक्षणता है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी ही है। इसलिये परमात्माकी तरफ ही दृष्टि जानी चाहिये।

श्लोक—

यच्चापि सर्वभूतानां वीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥†

\* सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें ‘मौन’ शब्द मानसिक तपके लक्षणोंमें आया है। इस वास्ते यहाँ ‘मौन’ शब्दका अर्थ ‘भगवत्तत्त्वका मनन करना’ लेना चाहिये।

† भगवान्ने वीसवें श्लोकसे उन्तालीसवें श्लोकतक अपनी कुल बयासी विभूतियोंका वर्णन किया है; जैसे—वीसवें श्लोकमें चार, इक्कीसवें श्लोकमें चार, बाईसवें श्लोकमें चार, तेईसवें श्लोकमें चार, चौबीसवें श्लोकमें तीन, पचीसवें श्लोकमें चार, छव्बीसवें श्लोकमें चार,

अर्थ—

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणियोंमें जो बीज है, यह बीज मैं ही हूँ; क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।

व्याख्या—

‘यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन’—यहाँ भगवान् समस्त विभूतियोंका सार बताते हैं कि सबका बीज अर्थात् कारण मैं ही हूँ। बीज कहनेका तात्पर्य है कि इस समस्तका निमित्त कारण भी मैं ही हूँ और उपादान कारण भी मैं हूँ अर्थात् समस्तको बनानेवाला भी मैं हूँ और सत्सारूपसे बननेवाला भी मैं हूँ।

भगवान् ने सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें अपने को ‘मनान्त बीज’ नये अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ‘अव्यय बीज’ और यहाँ केवल ‘बीज’ बताया है। इसका तात्पर्य है कि मैं ज्यों-का-ज्यों रहता हुआ ही सत्सारूपसे प्रकट हो जाता हूँ और समस्तारूपसे प्रकट होनेपर भी मैं उसमें ज्यों-का-ज्यों व्यापक रहता हूँ।

‘न तदस्ति विना यन्म्यान्मया भूतं चराचरम्’—संसारमें जड़-चेतन, स्थान-जड़म, चर-अचर आदि जो कुछ भी दैवतमें आता है, वह सब मेरे बिना नहीं हो सकता। सब मेरेसे ही होने है अर्थात्

सदाशिवसे श्लोकमें तीन, अष्टादशसे श्लोकमें चार, उन्नीससे श्लोकमें चार, तीससे श्लोकमें चार, इकतीससे श्लोकमें चार, बत्तीससे श्लोकमें पाँच, तैंतीससे श्लोकमें चार, चत्तीससे श्लोकमें नौ, पैंतीससे श्लोकमें चार, छत्तीससे श्लोकमें पाँच, सैंतीससे श्लोकमें चार, अड़तीससे श्लोकमें चार, और उन्ताईससे श्लोकमें एक विभूतिका रत्न किया है।

सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ । इस वास्तविक मूल तत्त्वको जानकर साधककी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जहाँ-कहाँ जायँ अथवा मन-बुद्धिमें संसारकी जो कुछ बात याद आयें, उन सबको भगवान्का ही स्वरूप माने । ऐसा माननेसे साधकको भगवान्का ही चिन्तन होगा, दूसरेका नहीं; क्योंकि तत्त्वसे भगवान्के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं ।

यहाँ भगवान्ने कहा है कि मेरे सिवाय चर-अचर कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ और अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें कहा है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् सब गुणोंका ही कार्य है । इस भेदका तात्पर्य है कि यहाँ भक्तियोगका प्रकरण है । इस प्रकरणमें अर्जुनने प्रश्न किया है कि मैं आपका कहाँ-कहाँ चिन्तन करूँ ? इस वास्ते उत्तरमें भगवान्ने कहा कि तेरे मनमें जिस-जिसका चिन्तन होता है, वह सब मैं ही हूँ ।\* परन्तु वहाँ ( १८ । ४० ) में सांख्ययोगका प्रकरण है । सांख्ययोगमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंके विवेककी तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी प्रधानता है, प्रकृतिका कार्य होनेसे मात्र सृष्टि त्रिगुणमयी है† । इस वास्ते वहाँ तीनों गुणोंसे रहित कोई नहीं है—ऐसा कहा गया है । )

\* मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।  
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥

( श्रीमद्भा० ११ । १३ । २४ )  
† इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥

( श्रीमद्भा० ११ । २८ । ७ )

### विशेष बात

भगवान्ने 'अहमामा गुडाकेश' ( १० । १०१ ) में लेकर 'धीजं तदहमर्जुन' ( १० । ३९ ) तक जो बयानी विभूतियाँ कही हैं, उनका तापर्य छोटा-बड़ा, उत्तम-मध्यम-अगम बतानेमें नहीं है, प्रयुक्त यह बतानमें है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सामने आये तो उसमें भगवान्ना ही चिन्तन होना चाहिये\*। कारण कि मूलमें अर्जुनका प्रश्न यही था कि आपका चिन्तन करता हुआ मैं ३ पदों से जानूँ और दिन दिन भागोंमें मैं अपना चिन्तन करूँ ? ( गीता १० । १७ )। उस प्रश्नके उत्तरमें चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियोंका सक्षिप्त वर्णन किया है।

जैसे यहाँ गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे अपनी विभूतियाँ कही हैं, ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें ( ग्यारहवें स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें ) भगवान्ने उद्धवजीसे अपनी विभूतियाँ कही हैं। गीतामें रही कुछ विभूतियाँ भागवतमें नहीं आयी हैं और भागवतमें कही कुछ विभूतियाँ गीतामें नहीं आयी हैं। गीता और भागवतमें रही गयी कुछ विभूतियों में तो समानता है, पर कुछ विभूतियोंमें दोनों जगह अलग-अलग बत आयी है, जैसे—गीतामें भगवान्ने पुरोहितोंमें बृहस्पतिजी अपनी विभूति बताया है— 'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पाण्डु पृथ्वस्पतिम्' ( १० । २४ ) और भागवतमें भगवान्ने पुरोहितोंमें वसिष्ठजीकी अपनी विभूति बताया है— 'पुरोधसां वसिष्ठोऽहम्' ( ११ । १६ । २० )।

उपर्युक्त यह होना है कि गीता और भागवतकी विभूतियोंका वक्त एक होनेपर भी दोनोंमें एक समान बात बयान नहीं मिलती \* इत्यत्र



### विशेष बात

भगवान्ने 'अहमान्मा शुडाकेश' ( १० । २० ) से लेकर 'वीजं तदहमर्जुन' ( १० । ३९ ) तक जो बयासी विभूतियाँ कही हैं, उनका तात्पर्य छोटा-बड़ा, उत्तम-मध्यम-अगम बतानेमें नहीं है, प्रयुक्त यह बतानेमें है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सामने आये तो उसमें भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये\*। कारण कि मूलमें अर्जुनका प्रश्न यही था कि आपका चिन्तन करता हुआ मैं कौनसे जगत् और दिन-दिन भागोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ ? ( गीता १० । १७ )। उस प्रश्नके उत्तरमें चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन किया है।

जैसे यहाँ गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे अपनी विभूतियाँ कही हैं, ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें ( ग्यांरहवै स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें ) भगवान्ने उद्धवजीसे अपनी विभूतियाँ कही हैं। गीतामें कही कुछ विभूतियाँ भागवतमें नहीं आयी हैं और भागवतमें कही कुछ विभूतियाँ गीतामें नहीं आयी हैं। गीता और भागवतमें कही गयी कुछ विभूतियोंमें तो समानता है, पर कुछ विभूतियोंमें दोनों जगह अलग-अलग बात आयी है; जैसे—गीतामें भगवान्ने पुरोहितोंमें बृहस्पतिको अपनी विभूति बताया है— 'पुरोधसां च मुखं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्' ( १० । २४ ) और भागवतमें भगवान्ने पुरोहितोंमें वसिष्ठजीको अपनी विभूति बताया है— 'पुरोधसां वसिष्ठोऽहम्' ( ११ । १६ । २० )।

कम प्रश्न रह होना है कि गीता और भागवतकी विभूतियोंका क्या एक होनेपर भी दोनोंमें एक समान बात क्यों नहीं मिलती ? इसका



उत्तर यह है कि वास्तवमें भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी महत्ता बतानेमें नहीं है, प्रत्युत अपना चिन्तन करानेमें है। इस वास्ते गीता और भागवत—दोनों ही जगह कही हुई विभूतियोंमें भगवान्‌का चिन्तन करना ही मुख्य है। इस दृष्टिसे जहाँ-जहाँ विशेषता दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता न देखकर केवल भगवान्‌की ही विशेषता देखनी चाहिये और भगवान्‌की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंके कथनका उपसंहार करते हैं।

श्लोक—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अर्थ—

हे परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने तुम्हारे सामने अपनी विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, वह तो केवल संक्षेपसे कहा है।

व्याख्या—

‘मम दिव्यानां\* विभूतीनां’—‘दिव्य’ शब्द अलौकिकता, विलक्षणताका द्योतक है। साधकका मन जहाँ चला जाय, वहीं

\* अर्जुनने पहले प्रार्थनाके रूपमें पूछा था—‘वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः’ (१०।१६); भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—‘हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः’ (१०।१९); और यहाँ उसका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते

भगवान्का चिन्तन करनेसे यह दिव्यता वहीं प्रकट हो जायगी, क्योंकि भगवान्के समान दिव्य कोई है ही नहीं। देवता जो दिव्य कहे जाते हैं, वे भी नित्य ही भगवान्के दर्शनकी इच्छा रखते हैं—  
 'नित्यं दर्शनकाक्षिणः' (गीता ११।५२)। इससे यही सिद्ध होता है कि दिव्यातिदिव्य तो एक भगवान् ही हैं। इस वास्ते भगवान्की जितनी भी विभूतियाँ हैं, तन्से वे सभी दिव्य हैं। परन्तु साधकके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल एक भगवत्प्राप्तिका ही होता है, और भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये राग-द्वेषसे रहित होकर उन विभूतियोंमें केवल भगवान्का चिन्तन करता है।

'नान्तोऽस्ति'—भगवान्की दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। कारण कि भगवान् अनन्त हैं तो उनकी विभूतियाँ, गुण, लीलाएँ आदि भी अनन्त हैं—'हरि अनंत हरि कया अनंता' (मानस १।१३९।५)। इस वास्ते भगवान्ने विभूतियोंके उपक्रममें और उपसंहारमें—दोनों ही जगह कहा है कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंके विषयमें कहा है कि 'मेरे द्वारा परमाणुओंकी संख्या सनयसे गिनी जा सकती है, पर करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाले मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं पाया जा सकता।'<sup>१</sup>

१—'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप' (१०।४०)। इस तरह प्रार्थना (प्रश्न) में, उपक्रममें और उपसंहारमें—तीनों जगह 'दिव्य' पदकी एकता है।

† साध्यानां परमाणूनां फालेन क्रियते मया।

न तथा मे विभूतीनां सृजनोऽष्टानि षोडशः ॥

(श्रीमद्भागवत ११।२६।२९)



यहाँ वर्णन नहीं हुआ है। इस वास्ते साधकको चाहिये कि जहाँ-जहाँ किसी विशेषताको लेकर मन खिंचता हो, वहाँ-वहाँ ही उस विशेषताको भगवान्की माने और भगवान्का ही चिन्तन करे; चाहे वह विभूति यहाँ भगवान्-द्वारा कही गयी हो अथवा न कही गयी हो। ]

सम्बन्ध—

अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से विभूति और योग बताने को प्रार्थना की। इसपर भगवान्ने पहले अर्जुनको विभूतियोंको बताया, और अब अगले श्लोकमें योग बताते हैं।

श्लोक—

यद्यद्विभूतिमत्स्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।  
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—

जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बन्धुयुक्त वस्तु है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज-( योग- ) के अंशसे उत्पन्न हुआ समझो।

व्याख्या—

‘यद्यद्विभूतिमत्स्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा’—प्रसारमात्रमें जिस-किसी सजीव-निर्जाव वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, गुण, भाव, क्रिया आदिमें जो कुछ ऐश्वर्य दीखे, शोभा या सौन्दर्य दीखे, बन्धुता दीखे तथा जो कुछ भी विशेषता, विद्विग्धता, योग्यता दीखे, उन सबको मेरे तेजके किसी एक अंशसे उत्पन्न हुई जानो। तात्पर्य है कि उनमें वह विद्विग्धता मेरे योगसे, सामर्थ्यसे, प्रभाससे

ही आयी है—ऐसा तुम समझो—‘तत्तदेवावगच्छ त्वं तेजोऽशसम्भवम् ।’ भगवान्के बिना कहीं भी और कुछ भी विलक्षणता नहीं है ।

मनुष्यको जिस-जिसमें विशेषता मात्ूम दे, उस-उसमें भगवान्की ही विशेषता मानते हुए भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये । अगर भगवान्को छोड़कर दूसरे वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता दीखती है, तो यह प्रतनका कारण है । जैसे पतिव्रता स्त्री अपने मनमें यदि पतिके सिवाय दूसरे किसी पुरुषकी विशेषता रखती है, तो उसका पतिव्रत्य भंग हो जाता है, ऐसे ही भगवान्के सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी विशेषताको लेकर मन खिंचता है, तो व्यभिचार-दोष आ जाता है अर्थात् भगवान्के अनन्यभावका व्रत भंग हो जाता है ।

संसारमें छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिमें जो भी महत्ता, सुन्दरता, सुखरूपता दीखती है और जो कुछ लाभरूप, हितरूप दीखता है, वह वास्तवमें सांसारिक वस्तुका है ही नहीं । अगर उस वस्तुका होता तो वह सब समय रहता और सबको दीखता, पर वह न तो सब समय रहता है और न सबको दीखता है । इससे सिद्ध होता है कि वह उस वस्तुका नहीं है । तो फिर किसका है ? उस वस्तुका जो आधार है, उस परमात्माका है । उस परमात्माकी झलक ही उस वस्तुमें सुन्दरता, सुखरूपता आदि रूपोंसे दीखती है । परन्तु जब मनुष्यकी वृत्ति परमात्माकी महिमाकी तरफ न जाकर उस वस्तुकी तरफ हो जाती है, तब वह संसारमें फँस जाता है ।

मंमारमें फँसनेपर उसको न तो कुछ मित्रता है और न उमरी तृप्ति ही होती है । इसमें सुग नही है, इममे तृप्ति नही होती— इतना अनुभव होनेपर भी मनुष्यका वस्तु आदिमें सुगुप्पनाका वहम मिटना नहीं । मनुष्यको सावधानीके साथ विचारपूर्वक देखना चाहिये कि प्रतिक्रिया मिटनेवाली वस्तुमें जो सुग दीगता है, वह उमरा कैसे हो सक्ता है ! वह वस्तु प्रतिक्रिया नष्ट हो रही है तो महत्ता, सुन्दरता उस वस्तुकी कैसे हो सकती ? ।

जैसे विजयीके सम्बन्धसे रेतियो बोलता है तो मनुष्य राजी होता है कि देवो, इस यन्त्रसे वैसी आवाज आ रही है ! उस रेतियोमें जो कुछ शक्ति है, वह सब विजयीकी ही है । विजयीमे सम्बन्ध न होनेपर कंत्र यन्त्रसे आवाज नहीं निकाली जा सकती । अनजान व्यक्ति तो उस शक्तिको यन्त्रकी ही मान लेता है, पर जानकार व्यक्ति उस शक्तिको विजयीकी ही मानता है । ऐसे ही निर्मी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, प्रिया आदिमें जो कुछ विशेषता दीवती है, उसको अनजान मनुष्य तो उस वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही मान लेता है, पर जानकार मनुष्य उस विशेषताको भगवान्की ही मानता है ।

इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सब मेरेमे ही पदा होने हैं और सबमें मेरी ही शक्ति है । इममें भगवान्का तापर्य यही है कि तुम्हें जहाँ-वहाँ और जिन-जिनमें विशेषता, महत्ता, सुन्दरता, वद्व्यता आदि दीये वह सब मेरी ही है, उनकी

सुनकर एक सन्त मस्त हो गये कि देखो ! ठाकुरजीने कैसा कण्ठ दिया है ! कितनी सुन्दर आवाज दी है ! तो सन्तकी दृष्टि वेद्यापर नहीं गयी, प्रत्युत भगवान्पर गयी कि इसके कण्ठमें जो आकर्षण है, मिठास है, वह भगवान्की है । ऐसे ही कोई फूल दीखे तो राजी हो जाय कि वाह-वाह, भगवान्ने इसमें कैसी सुन्दरता भरी है ! कोई किसीको बढ़िया पढ़ा रहा है, तो बढ़िया पढ़ानेकी शक्ति भगवान्की है, पढ़ानेवालेकी नहीं । देवताओंको बृहस्पति प्रिय लाते हैं, रघुवंशियोंको वसिष्ठजी प्रिय लगते हैं, किसी मो सिंहमें विशेषता दीखती है, किसी मो रुपये बहुत धारे लाते हैं, तो उनमें जिस शक्ति, महत्ता, विशेषता आदिको लेकर आकर्षण, प्रियता, विंचाव हो रहा है, वह शक्ति, महत्ता आदि भगवान्की ही है, उनकी अपनी नहीं । इस तरह जिस-किसीमें जहाँ-कहाँ विशेषता दीखे, वह भगवान्की ही दीखनी चाहिये । इस वास्ते भगवान्ने अनेक तरहकी विभूतियाँ बतायी हैं । इसका तात्पर्य है कि उन विभूतियोंमें श्रद्धा, रुचिके भेदसे आकर्षण हरेकका अलग-अलग होगा, एक सनान सबको विभूतियाँ अच्छी नहीं लोंगी, पर उन सबमें शक्ति भगवान्की है ।

यद्यपि जिस-किसीमें जो भी विशेषता है, वह परमात्माकी है, तथापि जिनसे हमें लाभ हुआ है अथवा हो रहा है, उनके हम जरूर कृतज्ञ बनें, उनकी सेवा करें । परन्तु उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानकार वहाँ फँस न जायँ—यह सावधानी रखें ।

### विशेष बात

। भगवान्ने श्रीसर्वे श्लोकमें लेकर उन्तायीमें श्लोकका जितनी विभूतियों कही हैं, उनमें प्रायः 'अस्मि' ( मैं हूँ ) पदका प्रयोग किया है । फिर तीन जगह—श्रीसर्वे और सत्ताईसर्वे श्लोकमें 'प्रिद्धि, तथा यद्वा इत्तात्रोमर्षे श्लोकमें 'अयात्' पदका प्रयोग करके 'जानने' की बात कही है ।

'अस्मि' ( मैं हूँ ) पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य विभूतियोंके मूल तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है कि इन सब विभूतियोंके मूलमें मैं ही हूँ । कारण कि सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मैं आपसे कैसे जानूँ, तो भगवान्ने 'अस्मि' का प्रयोग करके सब विभूतियोंमें अपनेको जाननेकी बात कही ।

दो जगह 'प्रिद्धि' पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य मनुष्यको सायमान, सायचेत करानेमें है । मनुष्य दोके द्वारा सायचेत होता है—ज्ञानके द्वारा और शासनके द्वारा । ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है और शासन स्वयं राजा करता है । अतः चौबीसवें श्लोकमें जहाँ गुरु बृहस्पतिमा वर्णन आया है, वहाँ 'प्रिद्धि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमयोग गुरुके द्वारा मेरी विभूतियोंके तत्त्वको ठीक तरहसे समझो । विभूतियोंके तत्त्वको समझनेका फल है—मेरेमें दृढ़ भक्ति होना ( गीता १० । ७ ) । सत्ताईसर्वे श्लोकमें जहाँ राजाका वर्णन आया है, वहाँ 'प्रिद्धि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमयोग राजाके शासनद्वारा उन्मार्गसे वचकर सन्मार्गमें लाना अर्थात् अपना जो मन शुद्ध बनाना समझो । गुरु प्रेमसे मनज्ञाता है और राजा प्रत्येक, भयसे





### विशेष बात

। भगवान्ने बीसवें श्लोकसे लेकर उन्तालीसवें श्लोकतक जितनी विभूतियों कही हैं, उनमें प्रायः 'अस्मि' ( मैं हूँ ) पदका प्रयोग किया है । सिर्फ़ तीन जगह—तीसवें आर सत्ताईसवें श्लोकमें 'मिद्वि, तथा यहाँ इतक नामों श्लोकमें 'अराच्छ' पदका प्रयोग करके 'जानने' की बात कही है ।

'अस्मि' ( मैं हूँ ) पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य विभूतियोंके मूल तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है कि इन सब विभूतियोंके मूलमें मैं ही हूँ । कारण कि सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मैं आपको कैसे जानूँ, तो भगवान्ने 'अस्मि' का प्रयोग करके सब विभूतियोंमें अपनेको जाननेकी बात कही ।

दो जगह 'मिद्वि' पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य मनुष्यको सावधान, सावचेत करानेमें है । मनुष्य दोके द्वारा सावचेत होता है—ज्ञानके द्वारा और शासनके द्वारा । ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है और शासन स्वयं राजा करना है । अतः चौबीसवें श्लोकमें जहाँ गुरु धृहस्पतिका वर्णन आया है, वहाँ 'मिद्वि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमयोग गुरुके द्वारा मेरी विभूतियोंके तत्त्वको ठीक तरहसे समझो । विभूतियोंके तत्त्वको समझनेका फल है—मेरेमें दृढ़ भक्ति होना ( गीता १०।७ ) । सत्ताईसवें श्लोकमें जहाँ राजाका वर्णन आया है, वहाँ 'मिद्वि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमयोग राजाके शासनद्वारा उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गमें लाना अर्थात् अपना जीवन सदा सदा बनाना समझो । गुरु प्रेमसे समझाता है ओर राजा प्रत्यक्ष, भयसे



अर्थ—

अथवा हे अर्जुन ! तेरेको इस प्रकार बहुत सी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है ? मैं अपने किसी एक अंगसे सम्पूर्ण जगत्-को व्याप करके स्थित हूँ ।

व्याख्या—

‘अथवा’ यह अव्यय-पद देकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने उत्तर दिया ही हूँ, अब मैं अपनी तरफसे तेरे लिये एक विशेष महत्त्वकी सार बात बतता हूँ ।

‘बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन’—भैया अर्जुन ! तेरेको इस प्रकार बहुत जाननेकी क्या जरूरत है ? ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि मैं घोड़ोकी लगाम और चाबुक पकड़े तेरे सामने बैठा हूँ । दीगनेमें तो मैं छोटा सा दीखता हूँ, पर मेरे इस शरीरके किसी एक अंगमें जन्त कोटि ब्रह्माण्ड सर्ग और प्रलय—दोनों अवस्थाओंमें मेरेमें स्थित है । उन सबको लेकर मैं तेरे सामने ब्रेठा हूँ और तेरी आज्ञाका पालन करता हूँ । इस वास्ते जब मैं स्वयं तेरे सामने हूँ, तो तेरे लिये बहुत-सी बातें जाननेकी क्या जरूरत है ।

‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्—मैं इस सम्पूर्ण

गी० वि० वि० दृ० ८—

जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ—यह कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्के किसी भी अंशमें अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान हैं—श्रोम रोम प्रति लगे कोटि कोटि ब्रह्मंड ( मानस १ । २०१ ) । परन्तु उन सृष्टियोंसे भगवान्का कोई अंश-भाग नहीं रुका है अर्थात् भगवान्के किसी अंशमें उन सब सृष्टियोंके रहनेपर भी वहाँ खाली जगह पड़ी है । जैसे, प्रकृतिका बहुत क्षुद्र अंश हमारी बुद्धि है । बुद्धिमें कई भाषाओंका, कई लिपियोंका, कई कलाओंका ज्ञान होनेपर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि हमारी बुद्धि अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे भर गयी है; अतः अब दूसरी भाषा, लिपि आदि जाननेके लिये जगह नहीं रही है । तात्पर्य है कि बुद्धिमें अनेक भाषाओं आदिका ज्ञान होनेपर भी बुद्धिमें जगह खाली ही रहती है और कितनी ही भाषाएँ आदि सीखनेपर भी बुद्धि भर नहीं सकती । इस प्रकार जब प्रकृतिका छोटा अंश बुद्धि भी अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे नहीं भरती, तो फिर प्रकृतिसे अतीत, अनन्त, असीम और अगाध भगवान्का कोई अंश अनन्त सृष्टियोंसे कैसे भर सकता है ? वह तो बुद्धिकी अपेक्षा भी विशेषरूपसे खाली रहती है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो  
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्,—इन भगवत्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'विभूतियोग' नामक दसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १० ॥

जहाँ-वहाँ जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह स्वभगवान्की ही विभूति है—ऐसा माननेसे भगवान्के साथ योग- ( सम्बन्ध- ) का अनुभव हो जाता है । इस वास्ते दसवें अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है ।

### दसवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

( १ ) इस अध्यायमें 'अथ दशमोऽध्यायः' के तीन, उवाचके छः, श्लोकोंके पाँच सौ छप्पन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं । इस तरह सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ अठहत्तर है ।

( २ ) 'अथ दशमोऽध्यायः' में सात, उवाचमें बीस, श्लोकोंमें एक हजार तीन सौ चौबालीस और पुष्पिकामें छियालीस अक्षर हैं । इस तरह सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ सत्रह है । इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं ।

( ३ ) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो 'श्रीभगवानुवाच' और एक 'अर्जुन उवाच' ।



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

## अर्थकादशाऽध्यायः

सम्बन्ध—

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अर्जुनपर विशेष कृपा करके कहा कि सम्पूर्ण जगत् अर्थात् अनन्त सृष्टियों मेरे किसी अंशमें हैं और वह मैं तेरा सारथि बना हुआ तेरे घोड़ोंकी लगाम और चाबुक लेकर बैठा हूँ तथा तेरी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ । जब सब विभूतियों और योग-( प्रभाव-) का महान् आधार मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तब तुझे अलग-अलग विभूतियोंको जाननेकी क्या आवश्यकता है ? इस बातको गुनकर जब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की महती कृपापर गयी तो वे बड़े आश्चर्यमें डूब जाते हैं और कह उठते हैं --

श्लोक—

अर्जुन उवाच

भद्रनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंक्षितम् ।  
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥\*

\* भगवान्की कृपाका अनुभव करके अर्जुन भागविभोर हो उठे और कृपाका रहस्य प्रकट करनेके लिये जब अत्यधिक प्रसन्नतामें पड़े, तो नियमका ख्याल न रहनेसे यह श्लोक तैत्तिरीय अथर्ववेदोंका आया है, जबकि गीताभरमें अनुष्टुप् छन्दवाले श्लोक बत्तीस अथर्ववेदोंके ही आये हैं । तात्पर्य है कि अत्यधिक प्रसन्नता होनेपर नियमका ध्यान नहीं रहता ।



अर्थ—

अर्जुन बोले—केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व जाननेका वचन कहा, उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है ।

व्याख्या—

‘मदनुग्रहाय’—मेरा भजन करनेवालोंपर कृपा करके मैं स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता १०।११) —यह बात भगवान्‌ने केवल कृपा-परवश होकर कही । इस बातका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे अर्जुन भगवान्‌की स्तुति करने लगे । ऐसी स्तुति उन्होंने यहाँसे पहले गीतामें कहीं नहीं की । उसीका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ कहते हैं कि केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने ऐसी बात कही है\* ।

‘परमं गुह्यम्’—अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंको कहनेके बाद भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तमें अपनी ओरसे कहा कि मैं अपने किसी अंशमें सम्पूर्ण जगत्‌को, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंको व्याप्त करके स्थित हूँ ( १०।४२ ) अर्थात् भगवान्‌ने खुद

\* ऐसे तो पहले अध्यायसे लेकर यहाँतक भगवान्‌ने जो कुछ कहा है, वह सब कृपा-परवश होकर ही कहा है । वास्तवमें भगवान्‌की सम्पूर्ण क्रियाओंमें कृपा भरी रहती है, पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं । भगवान्‌की कृपाको पहचाननेपर भगवत्‌त्त्वका अनुभव बहुत सुगमतासे और शीघ्रतासे हो जाता है । अर्जुनका लक्ष्य भी जब भगवत्‌त्त्वकी ओर जाता है तो वे विभोर होकर कह उठते हैं कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया ।

अपना परिचय दिया कि मैं कैसा हूँ । इसी बातको अर्जुन परम गोपनीय मानते हैं ।

‘अध्यात्मसंशितम्’—दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान् ने कहा था कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है— अर्थात् सम्पूर्ण विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं और सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवान् की सामर्थ्यसे ही प्रकट होती हैं तथा अन्तमें भगवान् में ही लीन हो जाती हैं—ऐसा तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है । इसी बातको अर्जुन अध्यात्मसंज्ञित मान रहे हैं\* ।

‘यत्त्वयोपतं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम’—सम्पूर्ण जगत् भगवान् के किसी एक अंशमें है—इस बातपर पहले अर्जुनकी दृष्टि नहीं थी और वे स्वयं इस बातको जानते भी नहीं थे, यही उनका मोह था । परन्तु जब भगवान् ने यह कहा कि सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंशमें व्याप्त करके मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो अर्जुनकी इस तरफ दृष्टि गयी कि भगवान् कितने शिल्क्षण हैं, जिनके किसी एक अंशमें अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं, और वे जैसे-के-जैसे रहते हैं । इस मोहके नष्ट होते ही अर्जुनको यह ख्याल आया कि पहले जो मैं इस बातको नहीं जानता था, वह मेरा मोह ही था† । इस वास्ते

\* भगवान् ने अभी तक भक्तिही जितनी बातें कही हैं, वे सब की सब परम गोपनीय अध्यात्म उपदेश हैं ।

† मोहके रहत हुए मोहका ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मोहने चले जानेपर ही मोहका ज्ञान होता है, और ज्ञान होनेपर मोह रहता ही नहीं ।

अर्जुन यहाँ अपनी दृष्टिसे कहते हैं कि भगवन् ! मेरा यह मोह सर्वथा चला गया है । परंतु ऐसा कहनेपर भी भगवान् ने इसको ( अर्जुनके मोहनाशको ) स्वीकार नहीं किया; क्योंकि आगे उन्चासवें श्लोकमें भगवान् ने अर्जुनसे कहा है कि तेरेको व्यथा और मूढ़भाव ( मोह ) नहीं होना चाहिये—‘मा ते व्यथा मा च विमूढभावः’ ।

सम्बन्ध—

मोह कैसे नष्ट हो गया ? इसको अगले श्लोकमें विस्तारसे कहते हैं ।

श्लोक—

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।  
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥  
अर्थ—

हे कमलनयन ! सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलय मैंने विस्तारपूर्वक आपसे ही सुना है और अविनाशी माहात्म्य भी सुना है ।

व्याख्या—

‘भवाप्ययौ हि भूतानां त्वत्तः श्रुतौ विस्तरशो मया’— भगवान् ने पहले कहा था—मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय हूँ; मेरे सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है ( ७ । ६-७ ); सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं ( ७ । १२ ); प्राणियोंके अङ्ग-अङ्ग अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं ( १० । ४-५ ); सम्पूर्ण प्राणी मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सब चेष्टा करते हैं ( १० । ८ ); प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भी मैं ही

( १० । २० ) ; और सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ ( १० । ३२ ) । इसीको लेकर अर्जुन यहाँ कहते हैं कि मैंने आपसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन विस्तारसे सुना है । इसका तात्पर्य प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश सुननेसे नहीं है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह सुननेसे है कि सभी प्राणी आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही रहते हैं और आपमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं ।

‘माहात्म्यमपि चाव्ययम्’—आपने दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें बताया कि विभूति और योगको जो तत्त्वसे जानता है, वह अविकम्प भक्तियोगसे युक्त हो जाता है । इस प्रकार आपकी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका माहात्म्य भी मैंने सुना है ।

माहात्म्यको ‘अव्यय’ कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्की विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेपर जो भगवान्में भक्ति होती है, प्रेम होता है, भगवान्से अभिन्नता होती है, वह सब अव्यय है । कारण कि भगवान् अव्यय, नित्य हैं तो उनकी भक्ति, प्रेम भी अव्यय ही होगा ।

सम्यग्—

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन विशाट्-रूपके दर्शनके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—

पद्मेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।  
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अर्थ—

हे पुरुपोत्तम ! आप अपने-आपको जैसा कहते हैं, यह वास्तवमें ऐसा ही है । हे परमेश्वर ! आपके ईश्वर-सम्बन्धी रूपको मैं देखना चाहता हूँ ।

व्याख्या—

‘पुरुपोत्तम’—यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि हे भगवन् ! मेरी दृष्टिमें इस संसारमें आपके समान कोई उत्तम, श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् आप ही सबसे उत्तम, श्रेष्ठ हैं । इस बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान् ने भी कहा है कि मैं क्षरसे अतीन और अक्षरसे उत्तम हूँ; इस वास्ते मैं शास्त्र और वेदमें पुरुपोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ\* ।

‘एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानम्’—हे पुरुपोत्तम ! आपने सातवें अध्यायसे दसवें अध्यायतक मेरे प्रति अपने अलौकिक प्रभावका, सामर्थ्यका जो कुछ वर्णन किया वह वास्तवमें ऐसा ही है ।

यह संसार मेरेसे ही उत्पन्न होता है, मेरेमें ही स्थित रहता है और मेरेमें ही लीन हो जाता है ( ७ । ६ ); मेरे सिवाय इसका और कोई कारण नहीं है ( ७ । ७ ), सब कुछ वासुदेव ही है ( ७ । ९ ), ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अविभूत, अविद्वेय और अत्रियज्ञ-रूपमें मैं ही हूँ ( ७ । २९-३० ), अनन्य भक्तिसे प्रापणीय परम-तत्त्व मैं ही हूँ ( ८ । २२ ), मेरेसे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है

\* यस्मान्निरमतीतोऽहमक्षरादपि

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः

चोत्तमः ।

पुरुपोत्तमः ॥ १८ ॥

पर म ससारमें और ससार मेरेमें नहीं है ( ९ । ४ ), सत् और असत्-रूपसे सत् कुठ मैं ही हूँ ( ९ । १९ ), मैं ही ससारका मूल कारण हूँ और मेरेसे ही सारा ससार सत्ता-स्फूर्ति पाता है ( १० । ८ ), यह सारा ससार मेरे ही किमी एक अशमें स्थित है ( १० । ४२ ) आदि-आदि अपने-आपको आपने जो कुठ कहा है, वह सत्-वासत् यथार्थ ही है ।

‘परमेश्वर’—भगवान्‌के मुखसे अर्जुनने पहले सुना है कि ‘मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर हूँ—‘भूतानामीश्वरोऽपि’ ( ४ । ६ ), ‘सर्वलोकमहेश्वरम्’ ( ५ । २९ ) इस वास्ते अर्जुन यहाँ भगवान्‌के विलक्षण प्रभाससे प्रभावित होकर उनके लिये ‘परमेश्वर’ सम्बोधन देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हे भगवन् ! वास्तवमें आप ही परम ईश्वर हैं, आप ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यके मालिक हैं ।

‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्’—अर्जुन कहते हैं कि मेने आपसे आपका माहात्म्यसहित प्रभास सुन लिया है और इस नियममें मेरे हृदयमें दृढ विश्वास भी हो गया है । ‘सम्पूर्ण ससार मेरे शरीरके एक अशमें है’—इसे सुनकर मेरे मनमें आपके उस रूपको देखनेकी उत्कट अलसा हो रही है ।

दूसरा भाग यह है कि आप इतने विलक्षण और महान् होते हुए भी मेरे साथ कितना स्नेह रखने हैं, कितना आत्मीयता रखने हैं कि मैं जसा कहता हूँ, वैसा ही आप करते हैं और जो कुल पूछता हूँ, उसका आप उत्तर देते हैं । इस कारण आपसे कहनेका, पूछनेका

किञ्चिन्मात्र भी संकोच न होनेसे मेरे मनमें आपका वह रूप देखनेकी बहुत इच्छा हो रही है, जिसके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ।

दसवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि आप अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियाँ कह दीजिये, वाकी मत रखिये—, 'वक्तुमर्हस्यशेषेण'—तो भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन करते हुए उपक्रममें और उपसंहारमें कहा कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है ( १० । १२, ४० ) । इस वास्ते भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन संक्षेपसे ही किया । परन्तु यहाँ जब अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके एक रूपको देखना चाहता हूँ—'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' तो भगवान् कहते हैं कि तू मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख ( ११ । ५ ) । जैसे संसारमें कोई किसीसे लालचपूर्वक ज्यादा माँगता है, तो देनेवालेमें देनेका भाव कम हो जाता है और वह कम देता है । इसके विपरीत यदि कोई संकोचपूर्वक कम माँगता है, तो देनेवाला उदारतापूर्वक ज्यादा देता है ऐसे ही वहाँ अर्जुनने खुलेरूपसे कह दिया कि आप सब-की-सब विभूतियाँ कह दीजिये तो भगवान्ने कहा कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा । इस बातको लेकर अर्जुन सावधान हो जाते हैं कि अब मेरे कहने-में ऐसी कोई अनुचित बात न आ जाय । इस वास्ते अर्जुन यहाँ संकोचपूर्वक कहते हैं कि अगर मेरे द्वारा आपका विराटरूप देखा जा सकता है तो दिखा दीजिये । अर्जुनके इस संकोचको देखकर

भगवान् बड़ी उदारतापूर्वक कहते हैं कि तू मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देग ले।

दूसरा भाग यह है कि अर्जुनको रथमें एक जगह बैठे हुए भगवान् ने यह कहा कि 'शु जो मेरे इस शरीरको देख रहा है, इसके किमी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् ( जिसके अन्तर्गत अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड हैं ) व्याप्त है ।' तात्पर्य है कि भगवान् का जोटा-सा शरीर है, और उस छोटे-से शरीरके किमी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् है। अतः उस एक अंशमें स्थित रूपोंको मैं देखना चाहता हूँ—यही अर्जुनको 'रूपम्' ( एक रूप ) कहनेका आग्रह माट्टम देना है।

श्लोक—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।  
योगेश्वर तनो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

अर्थ—

हे प्रभो ! मेरे द्वारा आपका वह पद्म ऐश्वर रूप देखा जा सकता है—ऐसा अगर आप मानते हैं। त' हे योगेश्वर ! आप अपने तम अविनाशी स्वरूपको मुझे दिग्वा दीजिये।

व्याख्या—

'प्रभो'—'प्रभु' नाम सर्वसमर्थका है, इस रास्ते इस सम्बोधन-का भाग यह माट्टम देना है कि यदि आप मेरमें त्रिराटरूप देखने की सामर्थ्य मानते हैं, तत्र तो ठीक है, नहीं तो आप मेरेको ऐसी सामर्थ्य दीजिये, जिससे मैं आपका वह ऐश्वर ( ईश्वर-सम्बन्धी ) रूप देख सकूँ।



‘मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति’—इसका तात्पर्य है

कि अगर आप अपना वह रूप नहीं दिखायेंगे, तो भी मैं यही मानूँगा कि आपका रूप तो वैसा ही है, जैसा आप कहते हैं, पर मैं उसको देखनेका अधिकारी नहीं हूँ, योग्य नहीं हूँ, पात्र नहीं हूँ। इस प्रकार अर्जुनको भगवान्‌के वचनोंमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, प्रत्युत दृढ़ विश्वास है। इसीलिये तो वे कहते हैं कि आप मेरेको अपना विराटरूप दिखाइये।

‘योगेश्वर’—अर्जुनने दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌के लिये ‘योगिन्’ सम्बोधन दिया था अर्थात् भगवान्‌को योगी बताया था; परन्तु अब अर्जुनने भगवान्‌के लिये ‘योगेश्वर’ सम्बोधन दिया है अर्थात् भगवान्‌को सन्पूर्ण योगोंके मादिक बताया है। कारण यह है कि दसवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनकी भगवान्‌के प्रति जो धारणा थी, उस धारणामें अब बहुत परिवर्तन हुआ है।

‘योगेश्वर’ सम्बोधन देनेका यह भाव मालूम देता है कि भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी योग हो सकते हैं, उन सबके आप मालिक हैं, इस वास्ते आप अपनी अलौकिक योगशक्तिसे वह विराटरूप भी दिखा दीजिये।

‘ततो मे त्वं दर्शयान्मानमव्ययम्’—आपका वह स्वरूप तो अविनाशी ही है, जिससे अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं, पर आपका स्वरूप नित्य रहता है। आप अपने ऐसे अविनाशी स्वरूपका दर्शन कराइये।

सम्यन्व—

भगवान्ने अपने विश्वरूपमें तरह-तरहके वर्णों  
देसनेकी बात कही । अब अगल श्लोकमें  
बात कहते ह ।

श्लोक—

न्द्रानश्विनो मरुतस्तथा ।

पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ॥

अर्थ—

! तू बारह आदित्योको, आठ वसुओको,  
नीकुमारोको तथा उन्चास मरुद्रणोंको  
भी देखा नहीं, ऐसे बहुत-से आश्चर्य-

ख्या—

श्वेनौ मरुतस्तथा—अदितिके पुत्र  
अश, भग, त्रिक्लान्, पूषा, सविता,  
दित्य' हैं ( महा० आदि० ६५ ।

३, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—

अन्त नहीं आ सकता, ऐसे ही यहाँ भगवान् ने अपने रूपोंकी अनन्तता बतायी है ।

‘नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च’—अब भगवान् उन रूपोंकी विशेषताओंका वर्णन करते हैं कि उनकी तरह-तरहकी क्वावट है । उनके रंग भी तरह-तरहके हैं अर्थात् कोई किसी रंगका तो कोई किसी रंगका, कोई पीला तो कोई लाल आदि । उनमें भी एक-एक रूपमें कई तरहके रंग हैं । उन रूपोंकी आकृतियाँ भी तरह-तरहकी हैं अर्थात् कोई छोटा तो कोई मोटा, कोई लम्बा तो कोई चौड़ा आदि-आदि ।

जैसे पृथ्वीका एक छोटा-सा कण भी पृथ्वी ही है, ऐसे ही भगवान् के अन्त, अपार विश्वरूपका एक छोटा-सा अंश होनेके कारण यह संसार भी विश्वरूप ही है । परन्तु यह हरेकके सामने दिव्य विश्वरूपसे प्रकट नहीं है, प्रत्युत संसाररूपसे ही प्रकट है । कारण कि मनुष्यकी दृष्टि भगवान् की ओर न होकर नाशवान् संसारकी ओर ही रहती है । जैसे अवतार लेनेवाले भगवान् सबके सामने भगवरूपसे प्रकट नहीं रहते ( गीता ७ । २५ ), प्रत्युत मनुष्यरूपसे ही प्रकट रहते हैं, ऐसे ही विश्वरूप भगवान् सबके सामने संसाररूपसे ही प्रकट रहते हैं अर्थात् हरेकको यह विश्वरूप संसाररूपसे ही दीखता है । परन्तु यहाँ भगवान् अपने दिव्य अविनाशी विश्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर अर्जुनको कह रहे हैं कि तू मेरे दिव्य रूपोंको देख ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अपने विश्वरूपमें तरह-तरहके षणों और आकृतियोंको देसनेकी बात कही। अब अगलं श्लोकमें देवताओंको देसनेकी बात कहते हैं।

श्लोक—

पश्यादित्यानवसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।  
यहन्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ॥

अर्थ—

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! तू वारह आदित्योंको, आठ वसुओंको, ग्यारह रुद्रोंको और दो अश्विनीकुमारोंको तथा उनूचास मरुद्रणोंको देख। जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुत-से आश्चर्य-जनक रूपोंको भी तू देख।

व्याख्या—

‘पश्यादित्यानवसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा’—अदित्तिके पुत्र घाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु—ये वारह ‘आदित्य’ हैं ( महा० आदि० ६५ । १५-१६ ) ।

धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रम्युव और प्रभास—ये आठ ‘वसु’ हैं ( महा० आदि० ६६ । १८ ) ।

हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषामपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपान्त्री—ये ग्यारह ‘रुद्र’ हैं ( हरिवंश० १ । ३ । ५१-५२ ) ।

‘अश्विनीकुमार’ दो हैं। ये दोनों भाई देवताओंके वैद्य हैं।

सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्गज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विवर्ता, विचारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रति-कृत, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश्—ये उन्चास 'मरुत' हैं । ( वायुपुराण ६७ । १२३-१३० ) ।

—इन सबको तू मेरे विराट् रूपमें देख ।

वारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस प्रकारके ( तैंतीस कोटि ) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य हैं । देवताओंमें मरुद्गणोंका नाम भी आता है, पर वे उन्चास मरुद्गण इन तैंतीस प्रकारके देवताओंसे अलग माने जाते हैं; क्योंकि वे सभी दैत्योंसे देवता बने हैं । इस वास्ते भगवान् ने भी 'तथा' पद देकर मरुद्गणोंको अलग बताया है ।

'बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत'—तुमने इन रूपोंको पहले कभी आँखोंसे नहीं देखा है, कानोंसे नहीं सुना है, मनसे चिन्तन नहीं किया है, बुद्धिसे कल्पना नहीं की है । इन रूपोंकी तरफ तुम्हारी कभी वृत्ति ही नहीं गयी है । ऐसे बहुत-से अदृष्टपूर्व रूपोंको तू प्रत्यक्ष देख ले ।

इन रूपोंको देखते ही आश्चर्य होता है कि अहो ! ऐसे भी भगवान् के रूप हैं ! ऐसे अद्भुत रूपोंको तू देख ।

सम्बन्ध—

भगवान्-द्वारा विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देनेपर अर्जुनकी यह विज्ञप्ति हो सकती है कि मैं इस रूपको कहाँ देखूँ । इस वास्ते भगवान् कहते हैं ।

श्लोक—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पदयाद्य सचराचरम् ।  
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

अर्थ—

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन ! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देख ले । इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले ।

व्याख्या—

'गुडाकेश'—निद्रापर अधिकार प्राप्त करनेसे अर्जुनको 'गुडाकेश' कहते हैं । यहाँ यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि तू निरालस्य होकर सावधानीसे सम्पूर्ण जगत्को देख ।

'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पदयाद्य सचराचरम् मम देहे'—इसमें अन्यायक अन्तमें भगवान् ने कहा था कि मैं सम्पूर्ण जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ । इसीपर अर्जुनके मनमें विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई । इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि हाथमें बोझोंकी लगाम और चाबुक लेकर तेरे सामने बैठे हुए मेरे इस शरीरके एक देश- ( अंश- ) में चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख । मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस, भूत, पशु, पक्षी आदि चरने-फेरनेवाले जङ्गम; और वृक्ष, लता, घास, पौधा आदि स्था

पृथ्वी, पहाड़, रेत आदि जड़-सहित सम्पूर्ण जगत्को [‘अद्य’—  
अभी, इसी क्षण देख ले, इसमें देरीका काम नहीं है ।

‘यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि’—तू और भी जो कुछ देखना चाहता  
है, वह भी देख ले । अर्जुन और क्या देखना चाहते थे ? अर्जुनके  
मनमें यह सन्देह था कि युद्धमें जीत हमारी होगी या कौरवोंकी ?\*  
इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि वह भी तू मेरे इस शरीरके एक  
अंशमें देख ले ।

### विशेष वात

जैसे दसवें अध्यायमें भगवान्से ‘जो मेरी विभूति और योगको  
तत्त्वसे जानता है, उसका मेरेमें दृढ़ भक्तियोग हो जाता है’ इस  
वातको सुनकर ही अर्जुनने भगवान्की स्तुति-प्रार्थना करके  
विभूतियाँ बूझी थीं, ऐसे ही भगवान्से ‘मेरे एक अंशमें सारा  
संसार स्थित है’ इस वातको सुनकर अर्जुनने विश्वरूप दिखानेके  
लिये प्रार्थना की है । अगर भगवान् ‘अथवा’ कहकर अपनी ही  
तरफसे ‘मेरे किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है’ यह वात  
न कहते तो अर्जुन विश्वरूप देखनेकी इच्छा ही नहीं करते ।  
जब इच्छा ही नहीं करते तो फिर विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना  
कैसे करते ? और जब प्रार्थना ही नहीं करते तो फिर भगवान् अपना  
विश्वरूप कैसे दिखाते ? इससे सिद्ध होता है कि भगवान् कृपापूर्वक  
अपनी ओरसे ही अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाना चाहते हैं ।

\* न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

पेसी ही वान गेताके आरम्भमें भी आयी है । जब अर्जुनने भगवान्‌में दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा, तो भगवान्‌ने रथको विनामह भीष्म और द्रोगाचार्यके सामने खड़ा किया और अर्जुनसे कहा—तुम इन कुशवंशिणोंको देखो—‘कुरुन् पश्य’ (१।२५) । इसका यही आशय मात्स्य देता है कि भगवान् कृपपूर्वक गीता प्रकट करना चाहते हैं । कारण कि यदि भगवान् ऐसा न कहते तो अर्जुनको शोक नहीं होता और गीताका उपदेश आरम्भ नहीं होता । तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपनी तरफसे कृपा करके ही गीताको प्रकट किया है ।

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने तीन श्लोकोंमें चार बार ‘पश्य’ पदसे अपना रूप देगनेके लिये आज्ञा दी । इसके अनुसार ही अर्जुन आँसों फाड़-छाड़कर देगते हैं और देगना चाहते भी हैं, परन्तु अर्जुनको कुछ भी नहीं दीगता । इस वास्ते अब भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुन-देगने का कारण बताते हुए उनको दिव्य चक्षु देकर विश्वरूप देगनेसे आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—

तू अपनी इस आँगने अर्थात् चर्मचक्षुसे मेरेको नहीं देग सकता । इस वास्ते मैं तेरेको दिव्य चक्षु देता हूँ, जिनसे तू मेरे ईश्वर-मैश्वरी सामर्थ्यको देग ।



व्याख्या—

‘न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा’—तुम्हारे जो चर्मचक्षु हैं, इनकी शक्ति बहुत अल्प और सीमित है । प्राकृत होनेके कारण ये चर्मचक्षु केवल प्रकृतिके तुच्छ कार्यको ही देख सकते हैं अर्थात् प्राकृत मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपोंको, उनके भेदोंको तथा धूप, छाया आदिके रूपोंको ही देख सकते हैं । परन्तु वे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे अतीत मेरे रूपको नहीं देख सकते ।

‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे ये श्वरम्’—मैं तेरेको अतीन्द्रिय, अलौकिक रूपको देखनेकी सामर्थ्यवाले दिव्यचक्षु देता हूँ अर्थात् तेरे इन चर्मचक्षुओंमें ही दिव्य शक्ति प्रदान करता हूँ, जिससे तू अतीन्द्रिय, अलौकिक पदार्थ भी देख सके और साथ-साथ उनकी दिव्यताको भी देख सके । यद्यपि दिव्यता देखना नेत्रका विषय नहीं है, प्रत्युत बुद्धिका विषय है, तथापि भगवान् कहते हैं मेरे दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे तू दिव्यताको अर्थात् मेरे ईश्वर-सम्बन्धी अलौकिक प्रभावको भी देख सकेगा । तात्पर्य है मेरा विराटरूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुओंकी आवश्यकता है ।

‘मेरा ईश्वर-सम्बन्धी रूप देख’—यह कहनेका तात्पर्य है कि जैसे अवताररूपमें प्रकट होकर लीला करनेवाले भगवान्को मनुष्यरूपसे हरेक देख सकता है, पर उनको साक्षात् ईश्वररूपसे देखनेवाले बहुत कम होते हैं, ऐसे ही चर्मचक्षुओंसे संसारको ( जो दिव्य विराटरूपका ही एक अङ्ग है ) संसाररूपसे तो हरेक देखता ही है, पर उसे ईश्वररूपसे देखनेवाले बहुत ही कम होते हैं । इस

वास्ते भगवान् यहाँ दिव्यचक्षु देकर अर्जुनको ईश्वर-सम्बन्धी योग-रूप देखनेके लिये आज्ञा देते हैं ।

‘पश्य’ क्रियाके दो अर्थ होते हैं—बुद्धि- ( चित्त- ) से देखना और नेत्रोंसे देखना । नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ कहकर बुद्धिके द्वारा देखने- ( जानने- ) की बात कही । अब यहाँ ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ कहकर नेत्रोंके द्वारा देखनेकी बात कहते हैं ।

### विशेष बात

जैसे, किसी जगह ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—ऐसा लिखा हुआ है । जिनको वर्णमालाका बिल्कुल ज्ञान नहीं है, उनको तो इसमें केवल काली काली लकीरें दीखती हैं और जिनको वर्णमालाका ज्ञान है, उनको इसमें अक्षर दीखते हैं । परन्तु जो पढ़ा लिखा है और जिसकी गीताका गहरा मनन है, उसको ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—ऐसा लिखा हुआ देखते ही गीताके अध्यायोंकी, श्लोकोंकी, भागोंकी सब बातें दीखने लग जाती हैं । ऐसे ही अर्जुनको जब भगवान्ने दिव्यचक्षु दिये, तो उनको अलौकिक विश्वरूप तथा उसकी दिव्यता भी दीखने लगी, जो कि साधारण बुद्धिका विषय नहीं है । यह सब सामर्थ्य भगवत्प्रदत्त दिव्यचक्षुकी ही थी ।

अब यहाँ एक शङ्का होती है कि जब अर्जुनने चौथे श्लोकमें कहा कि अगर मैं आपके विश्वरूपको देख सकता हूँ तो आप अपने विश्वरूपको दिखा दीजिये, तब उसके उत्तरमें भगवान्को यह आठवाँ श्लोक कहना चाहिये था कि तू अपने



नहीं। तब उनके भगवान्‌ने दिव्यचक्षु प्रदान किये। साथ-साथ यह हुआ कि विराटरूप देखनेकी जिज्ञासा भी भगवान्‌ने पैदा की। जिज्ञासा पैदा करके विराटरूप दिखानेकी इच्छा प्रकट करायी। इच्छा प्रकट करनेपर विराटरूप दिखाया। अर्जुनको नहीं दीखा तो दिव्यचक्षु देकर इसकी पूर्ति की। तात्पर्य यह निश्चय कि भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागतका सब काम करनेकी जिम्मेदारी भगवान्‌ अपने ऊपर ले लेते हैं।

सम्बन्ध—

दिव्यचक्षु प्राप्त करके अर्जुनने भगवान्‌का कैसा रूप देखा, यह बात संजय धृतराष्ट्रसे अगले श्लोकमें कहने हैं।

श्लोक—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।  
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—

संजय बोले—हे राजन् ! ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर भगवान्‌ श्रीकृष्णने अर्जुनको परम ऐश्वर-रूप दिखाया।\*

व्याख्या—

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जो यह कहा था कि मैं अपने चर्मचक्षुओसे मुझे नहीं देख सकता, इस वास्ते में तैरेको दिव्यचक्षु

\* संजयको भी वेदव्यासजी महाराजसे दिव्यदृष्टि मिली हुई थी, इस वास्ते वे भी अर्जुनके साथ-ही-साथ भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन करते हैं और धृतराष्ट्रसे उसका वर्णन करते हैं।

देता हूँ, जिससे तूमेरे ईश्वर-सम्बन्धी योगको देख', उसीका संकेत यहाँ संजयने 'एवमुक्त्वा' पदसे किया है।

चौथे श्लोकमें अर्जुनने भगवान्को 'योगेश्वर' कहा, और यहाँ संजय भगवान्को 'महायोगेश्वर' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान्ने अर्जुनकी प्रार्थनासे बहुत अधिक अपना विश्वरूप दिखाया। भक्तकी थोड़ी-सी भी वास्तविक रुचि भगवान्की तरफ होनेपर भगवान् अपनी अपार शक्तिसे उसकी पूर्ति कर देते हैं।

तीसरे श्लोकमें अर्जुनने जिस रूपके लिये 'रूपमैश्वरम्' कहा, उसी रूपके लिये यहाँ संजय 'परमं रूपमैश्वरम्' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान्का विश्वरूप बहुत ही विलक्षण है। सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विलक्षण, अलौकिक, अद्भुत विश्वरूप दिखाया, जिसको धैर्यशाली, जितेन्द्रिय, शूरवीर और भगवान्से प्राप्त दिव्यदृष्टिवाले अर्जुनको भी दुर्निरीक्ष्य कहना पड़ा। ( ११ । १७ ) और भयभीत होना पड़ा ( ११ । ४५ ) तथा भगवान्को भी 'व्यपेतभीः' कहकर अर्जुनको आश्वासन देना पड़ा ( ११ । ४९ )।

सम्बन्ध—

अब संजय भगवान्के उस परम ऐश्वर-रूपका वर्णन अगले दो श्लोकोंमें करते हैं।

श्लोक—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।  
 अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥  
 दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।  
 सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अर्थ—

जिसके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तरहके अद्भुत दर्शन हैं, अनेक दिव्य आभूषण हैं और हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं तथा जिनके गलेमें दिव्य मालाएँ हैं, जो दिव्य वस्त्र पहने हुए हैं, जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन आदि लगा हुआ है, ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय, अनन्तरूपगाले तथा चारों तरफ मुखवाले देव- ( अपने दिव्य स्वरूप- ) को भगवान् ने दिखाया ।

व्याख्या—

‘अनेकवक्त्रनयनम्’— विराटरूपसे प्रकट हुए भगवान् के जितने मुख और नेत्र दीख रहे हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं । विराट्-रूपमें जितने प्राणी दीख रहे हैं, उनके मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि सब-के-सब अङ्ग विराट्-रूप भगवान् के हैं । कारण कि भगवान् स्वयं ही विराट्-रूपसे प्रकट हुए हैं ।

‘अनेकाद्भुतदर्शनम्’— भगवान् के विराट्-रूपमें जितने रूप दीखते हैं, जितनी आकृतियाँ दीखती हैं, जितने रंग दीखते हैं, जितनी उनकी विचित्ररूपसे बनावट दीखती है, वह सब-का-सब अद्भुत दीख रहा है ।

‘अनेकदिव्याभरणम्’— विराट्-रूपमें दीखनेवाले अनेक रूपोंके हाथोंमें, पैरोंमें, कानोंमें, नाकोंमें और गर्भोंमें जितने गहने हैं, आभूषण हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं । कारण कि भगवान् स्वयं ही गहनोके रूपमें प्रकट हुए हैं ।

अर्थ—

अगर आकाशमें एक साथ हजारों सूर्य उदय हो जायँ, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस महात्मा-( विराटरूप परमात्मा-) के प्रकाशके सदृश शायद ही हो ।

व्याख्या—

‘दिवि सूर्यसहस्रस्य.....तस्य महात्मनः’—जैसे आकाशमें हजारों तारे एक साथ उदय होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश एक चन्द्रमाके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता, और हजारों चन्द्रमाओंका मिला हुआ प्रकाश एक सूर्यके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता, ऐसे ही आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश विराट् भगवान्के प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता । तात्पर्य यह हुआ कि हजारों सूर्योंका प्रकाश भी विराट् भगवान्के प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता । इस प्रकार हजारों सूर्योंके प्रकाशको उपमेय बनानेमें भी दिव्यदृष्टिवाले संजयको संकोच होता है, तो वह प्रकाश विराटरूप प्रकाशका उपमान हो ही कैसे सकता है ! कारण कि भौतिक है, जब कि विराट् भगवान्का प्रकाश दिव्य प्रकाश कितना ही बड़ा क्यों न हो, दिव्य प्रकाश तुच्छ ही है । भौतिक प्रकाश और दिव्य प्रकाश अलग होनेसे उनकी आपसमें तुलना नहीं की अङ्गुलिनिर्देशकी तरह भौतिक प्रकाशसे दिव्य प्रकाश जा सकता है । यहाँ संजय भी हजारों सूर्योंके

कल्पना करके सिरद्वारा भगवान्‌के प्रकाश- ( तेज- ) का लक्ष्य कराते हैं ।

सम्बन्ध—

पूर्व श्लोकमें विश्वरूप भगवान्‌के दिव्य रूप, अक्षय और तेजसा वर्णन करके अब संक्षेप अर्जुनद्वारा विश्वरूपके दर्शनकी बात कहते हैं ।

श्लोक—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।  
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तादा ॥ १३ ॥

अर्थ—

उस समय अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत्‌को देखा ।

व्याख्या—

'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा'—अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त अर्थात् ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये पशु-पक्षी हैं, यह पृथ्वी है, यह समुद्र है, यह आकाश है, ये नक्षत्र हैं आदि-आदि विभागोंके सहित ( संकुचिन नहीं, प्रत्युत विस्तारसहित ) सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को भगवान्‌के शरीरके भी एक देशमें अर्जुनने भगवान्‌के दिव्य रूप दिव्यचक्षुओंसे प्रत्यक्ष देखा । तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णके छोटे-से शरीरके भी एक अंशमें चराचर, स्थावर जङ्गमसहित सम्पूर्ण संसार है । वह संसार भी अनेक ब्रह्माण्डोंके रूपमें, अनेक देवताओंके लोकोंके रूपमें, अनेक व्यक्तियों और पदार्थोंके रूपमें विभक्त और विस्तृत है—इस प्रकार अर्जुनने खुले-रूपसे देखा ।



‘अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा’—‘तदा’ का तात्पर्य है कि जिस समय भगवान् ने अपना विराटरूप दिखाया, उस समय उसको अर्जुनने देखा। ‘अपश्यत्’ का तात्पर्य है कि जैसा रूप भगवान् ने दिखाया, वैसा ही अर्जुनने देखा। संजय पहले भगवान् को जैसे रूप-का वर्णन करके आये हैं, वैसा ही रूप अर्जुनने भी देखा।

जैसे मनुष्यलोकसे देवलोक बहुत विलक्षण है, ऐसे ही देवलोकसे भी भगवान् अनन्तगुना विलक्षण हैं; क्योंकि भगवान् ‘देवदेव’ अर्थात् देवताओंके भी देवता हैं। देवलोक आदि सव-के-सव लोक प्राकृत हैं और भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं। सांसारिक प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये वे प्रकृतिको अपने कशीभूत करके योगमायासे प्रकट हो जाते हैं—‘प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्म-मायया’ (गीता ४।६)। अतः भगवान् का प्रकृतिपर आधिपत्य है। भगवान् के सिवाय त्रिलोकीमें दूसरे जितने भी जीव हैं, वे सव-के-सव प्रकृतिके अन्तर्गत हैं और प्रकृतिके परवश होकर कर्मोंका फल भोगनेके लिये ऊँच-नीच योनियोंमें आते-जाते रहते हैं। इस वारते भगवान् देवताओंके भी देव (मालिक) हैं।

सम्बन्ध—

भगवान् के अलौकिक विराटरूपको देखनेके बाद अर्जुनकी क्या दशा हुई—इसका वर्णन संजय अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनक्षयः ।  
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्थ—

भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर वे अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया। वे हाथ जोड़कर विश्वरूप देखको मस्तकाने प्रणाम करने बोले।

व्याख्या—

‘ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमाधनञ्जयः’—अर्जुनने भगवान्‌के रूपके विषयमें जैसी कल्पना भी नहीं की थी, वैसा रूप देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान्‌ने मेरेपर कृपा करके विलक्षण आध्यात्मिक बातें अपनी ओरसे बतवाईं और अब कृपा करके मेरेको अपना विलक्षण रूप दिखा रहे हैं—इस बातको लेकर अर्जुन प्रसन्नताके कारण रोमाञ्चित हो गये।

‘प्रणम्य शिखा देवं कृताञ्जलिर्भाषत’—भगवान्‌की विलक्षण कृपाको देखकर अर्जुनका ऐसा भाव उमड़ा कि मैं इसके बदलेमें क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ ? मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मैं इनके अर्पण करूँ। मैं तो केवल सिरसे प्रणाम ही कर सकता हूँ अर्थात् अपने-आपको ही अर्पण कर सकता हूँ। अब अर्जुन हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विश्वरूप भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

सम्यग्—

अर्जुन विराटरूप भगवान्‌की जिस विलक्षणताको देखकर चकित हुए, उसका वर्णन अगले तीन श्लोकोंमें करते हुए भगवान्‌की स्तुति करते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे  
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्गान् ।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-

मूर्त्तींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं, आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष सम्पूर्ण समुदायोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शङ्करजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और सम्पूर्ण दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ ।

व्याख्या—

‘पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्व’ था भूतविशेषसङ्गान्’—

अर्जुनकी भगवत्प्रदत्त दिव्य दृष्टि इतनी विलक्षण है कि उनको देवलोक भी अपने सामने दीख रहे हैं । इतना ही नहीं, उनको सब-की-सब त्रिलोकी दीख रही है । केवल त्रिलोकी ही नहीं, प्रत्युत त्रिलोकीके उत्पादक ( ब्रह्मा ), पालक ( विष्णु ) और संहारक ( महेश ) भी प्रत्यक्ष दीख रहे हैं । इस वास्ते अर्जुन वर्णन करते हैं कि मैं सम्पूर्ण देवोंको, प्राणियोंके समुदायोंको और ब्रह्मा तथा शङ्करको देख रहा हूँ ।

‘ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्’—अर्जुन कहते हैं कि मैं कमलके ऊपर स्थित ब्रह्माजीको देखता हूँ, इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन कमलके नालको और नालके उद्गम-स्थान अर्थात् मूल आधार भगवान् विष्णुको ( जो कि शेषशय्यापर सोये हुए हैं और जिनकी नाभिसे कमल निकला है ) भी देख रहे हैं । इसके सिवाय भगवान्

शङ्करको, उनका कैलाश पर्यतको और कैलाश पर्यतपर स्थित उनके निवासस्थान वसुधैक्षको भी अर्जुन देख रहे हैं ।

‘सृष्टीश्च सर्वानुरगाश्च दिव्यान्’—पृथ्वीपर रहनेवाले जितने भी ऋषि हैं, उनको तथा पाताललोकां रहनेवाले दिव्य सर्पोंको भी अर्जुन देख रहे हैं ।

इस श्लोकमें अर्जुनके कथनसे यह सिद्ध होता है कि अर्जुनको स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—यह त्रिलोकी अलग अलग नहीं दी गई रही है, किन्तु त्रिभागसहित एक साथ एक जगह ही दी गई रही है—‘प्रविभक्तमनेकधा’ ( गीता ११ । १३ ) । उस त्रिलोकीसे जब अर्जुनकी दृष्टि हटती है, तो जिनको भक्तलोक ब्रह्मलोक, कैलाश और त्रेमुण्डलोक कहते हैं, वे भक्तोंके गतव्य स्थान तथा उनके दृष्ट ( ब्रह्मा, शंकर और त्रिगुण ) भी अर्जुनको नज़र आते हैं । यह सत्र भगवान्प्रदत्त दिव्यदृष्टिका ही प्रभाव है ।

### विशेष बात

जब भगवान् कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरे किसी एक अंशमें है, तो अर्जुन उसे दिखानेकी प्रार्थना करते हैं । अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान् कहते हैं कि तू मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचर जगत्को देख—‘इह एकस्य मम देहे’ ( ११ । ७ ) । वेदव्यासजीद्वारा प्राप्त दिव्यदृष्टिवाले सजय भी यही बात कहते हैं कि अर्जुनने भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित सम्पूर्ण जगत्को देखा—‘तत्र एकस्य देवदेवस्य शरीरे’ ( ११ । १३ ) । यहाँ अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण

भूतसमुदाय आदिको देखता हूँ—‘तव देव देहे’ । इस प्रकार भगवान् और संजयके वचनोंमें तो ‘एकस्थम्’ ( एक जगह स्थित ) पद आया है, पर अर्जुनके वचनोंमें यह पद नहीं आया है । इसका कारण यह है कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के शरीरमें जिस-किसी एक स्थानपर गयी, वहीं उनको भगवान्का विश्वरूप दिखायी देने लग गया । उस समय अर्जुनकी दृष्टि सारथिरूप भगवान्के शरीरकी तरफ गयी ही नहीं । अर्जुनकी दृष्टि जहाँ गयी, वहीं अनन्त सृष्टियाँ दीखने लग गयीं तो अर्जुनकी दृष्टि उधर ही बह गयी । इस वास्ते अर्जुन ‘एकस्थम्’ नहीं कह सके । वे ‘एकस्थम्’ तो तभी कह सकते हैं, जब विश्वरूप दीखनेके साथ-साथ सारथिरूपसे भगवान्का शरीर भी दीखे । अर्जुनको केवल विश्वरूप ही दीख रहा है, इसलिये वे विश्वरूपका ही वर्णन कर रहे हैं । उनको विश्वरूप इतना अपार दीख रहा है, जिसकी देश या कालसे कोई सीमा नहीं दीखती । तात्पर्य यह हुआ कि जब अर्जुनकी दृष्टिमें विश्वरूपका ही अन्त नहीं आ रहा है, तब उसकी दृष्टि सारथिरूपसे बैठे भगवान्की तरफ जाय ही कैसे ?

भगवान् तो अपने शरीरके एक देशमें विश्वरूप दिखा रहे हैं, इस वास्ते उन्होंने ‘एकस्थम्’ कहा है । संजय सारथिरूपमें बैठे हुए भगवान्को और उनके शरीरके एक देशमें स्थित विश्वरूपको देय रहे हैं, इस वास्ते संजयने ‘एकस्थम्’ पद दिया है ।\*

\* भगवान् और संजयके वचनोंमें ‘एकस्थम्’ पद आनेसे यह मान लेना चाहिये कि अर्जुनने भी भगवान्के शरीरमें एक जगह ही सम्पूर्ण विश्वरूपको देखा ।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान् और सजयकी दृष्टिमें वह एक जगह कौन-सी थी, जिसमें अर्जुन विश्वरूप देख रहे थे ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् के शरीरमें अमुक जगह ही अर्जुनने विश्वरूप देखा था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता । कारण कि भगवान् के शरीरके एक-एक रोमरूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं \* । भगवान् ने भी यह कहा था कि मेरे शरीरके एक देशमें तू चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को देख ले ( गीता ११ । ७ ) । इस वास्ते जहाँ अर्जुनकी दृष्टि एक बार पड़ी, वहीं उनको सम्पूर्ण विश्वरूप दीखने लग गया ।

श्लोक—

अनेकग्राहूदरवस्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अर्थ—

हे विश्वरूप ! हे विश्वेश्वर ! आपको मैं अनेक हाथ, पैर, मुख और नेत्राला तथा सब तरफसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । मैं आपके न आदिको, न मध्यको और न अन्तको ही देख रहा हूँ ।

\* रोम रोम प्रति लगे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड ( मा० १ । २०१ )

द्वेष्टान्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या

वानाधरोमविस्त्रस्य च ते महित्वम् ॥

( श्रीमद्भा० १० । १४ । ११ )

व्याख्या—

‘विश्वरूप’ और ‘विश्वेश्वर’—इन दो सम्बोधनोंका तात्पर्य है कि मेरेको जो कुछ भी दीख रहा है, वह सब आप ही हो और इस विश्वके मालिक भी आप ही हो । सांसारिक मनुष्योंके शरीर तो जड होते हैं और उनमें शरीरी चेतन होता है; परन्तु आपके विराटरूपमें शरीर और शरीरी—ये दो विभाग नहीं हैं । विराटरूपमें शरीर और शरीरीरूपसे एक आप ही हैं । इस वास्ते विराटरूपमें सब कुछ चिन्मय-ही-चिन्मय है । तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुन ‘विश्वरूप’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीर हैं और ‘विश्वेश्वर’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीरी ( शरीरके मालिक ) हैं ।

‘अनेकवाहूदरवक्त्रनेत्रम्’—मैं आपके हाथोंकी तरफ देखता हूँ तो आपके हाथ भी अनेक हैं; आपके पेटकी तरफ देखता हूँ तो पेट भी अनेक हैं; आपके मुखकी तरफ देखता हूँ तो मुख भी अनेक हैं; और आपके नेत्रोंकी तरफ देखता हूँ तो नेत्र भी अनेक हैं । तात्पर्य है कि आपके हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंका कोई अन्त नहीं है, सब-के-सब अनन्त हैं ।

‘पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्’—आप देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके रूपमें चारों तरफ अनन्त-ही-अनन्त दिखायी दे रहे हैं ।

‘नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्’—आपका कहाँ अन्त है, इसका भी पता नहीं; आपका कहाँ मध्य है, इसका भी पता नहीं; और आपका कहाँ आदि है, इसका भी पता नहीं ।

सबसे पहले 'नान्तम्' कहनेका तात्पर्य यह माट्टम देता है कि जब कोई किसीको देखता है, तो सबसे पहले उसकी दृष्टि उस वस्तुकी सीमापर जाती है कि यह कहाँतक है। जैसे, किसी पुस्तकको देखनेपर सबसे पहले उसकी सीमापर दृष्टि जाती है कि पुस्तककी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है। ऐसे ही भगवान्‌के त्रिराटरूपको देखनेपर अर्जुनकी दृष्टि सबसे पहले उसकी सीमा-( अन्त- ) की ओर गयी। जब अर्जुनको उसका अन्त नहीं दीखा, तो उनकी दृष्टि मध्यभागपर गयी, फिर आदि-( आरम्भ- ) की तरफ दृष्टि गयी, पर कहीं भी त्रिराटरूपका अन्त, मध्य और आदिका पता नहीं लगा। इस वास्ते इस श्लोकमें 'नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्'—यह क्रम रखा गया है।

श्लोक—

किरीटिनं गद्गिनं चक्रिणं च  
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।  
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-  
द्दीप्तानलार्द्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अर्थ—

मैं आपको किरीट, गदा, चक्र ( तथा शङ्ख और पद्म ) धारण किये हुए देख रहा हूँ। आपको तेजकी राशि, सब तरफ प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान वान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेय-स्वरूप देख रहा हूँ।



व्याख्या—

‘किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च’—आपको मैं किरीट, गदा और चक्र धारण क्रिये हुए देख रहा हूँ । यहाँ ‘च’ पदसे शङ्ख और पद्मको भी ले लेना चाहिये । इसका तात्पर्य ऐसा माद्धम देता है कि अर्जुनको विश्वरूपमें भगवान् त्रिगुणा चतुर्भुजरूप भी दीख रहा है ।

‘तेजोराशिम्’—आप तेजकी राशि हैं, मानो तेजका समूह-का-समूह ( अनन्त तेज ) इकट्ठा हो गया हो । इसका पहले संजयने वर्णन किया है कि आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी भगवान्के तेजकी बराबरी नहीं कर सकते (११।१२)। ऐसे आप प्रकाशस्वरूप हैं ।

‘सर्वतो दीप्तिमन्तम्’—स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेसे आप चारों तरफ प्रकाश कर रहे हैं ।

‘पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्’—खूब देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान आपकी कान्ति है । जैसे सूर्यके तेज प्रकाशके सामने आँखें चौंध जाती हैं, ऐसे ही आपको देखकर आँखें चौंध जाती हैं । इस वास्ते आप कठिनतासे देखे जानेयोग्य हैं । आपको ठीक तरहसे देख नहीं सकते ।

[ यहाँ एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी, पर वह दिव्यदृष्टिवाला अर्जुन भी विश्वरूपको देखनेमें पूरा समर्थ नहीं हो रहा है । ऐसा देदीप्यमान भगवान्का स्वरूप है । ]

आप सब तरफसे अप्रमेय ( अपरिमित ) हैं अर्थात् आप प्रमा-  
( माप- ) के विषय नहीं हैं । प्रयत्न, अनुमान, उपमान, शब्द,  
अर्थापत्ति, अनुपञ्चि आदि कोई भी प्रमाण आपको बनलानेमें  
काम नहीं करता; क्योंकि प्रमाणोंमें शक्ति आपकी ही है ।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें अर्जुन भगवान्को निर्गुण-निराकार,  
सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूपमें देखते हुए भगवान्की  
स्तुति करते हैं ।

श्लोक—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं  
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता  
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥  
अर्थ—

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर ( अक्षरब्रह्म ) हैं, आप ही  
इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातनधर्मके रक्षक  
हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं  
मानता हूँ ।

व्याख्या—

‘त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्’—वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों,  
सन्तोंकी वाणियों और तत्त्वज्ञ जीन्मुक्त महापुरुषोंद्वारा जानने-  
योग्य जो परमानन्दस्वरूप अक्षरब्रह्म है, जिसको निर्गुण निराकार  
कहते हैं, वे आप ही हैं ।

‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्’—देखने, सुनने और समझनेमें  
जो कुछ संसार अना है, उस सभारके परम आश्रय, आधार आप



अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखोंवाले और अपने तेजसे इन समारम्भों सतम करते हुए देख रहा हूँ ।

व्याख्या —

‘अनादिमध्यान्तम्’—आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित है, अर्थात् आपकी कोई सीमा नहीं है ।

सोलहवें श्लोकमें भी अर्जुनने कहा है कि मे आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देखना हूँ । वहाँ तो ‘देशकृत’ अनन्तताका वर्णन हुआ है और यहाँ ‘नाटकृत’ अनन्तताका वर्णन हुआ है । तात्पर्य है कि देशकृत, बालकृत, वस्तुकृत आदि किसी तरहसे भी आपकी सीमा नहीं है । सम्पूर्ण देश, काल आदि आपके अन्तर्गत हैं, फिर आप देश, काल आदिके अन्तर्गत कैसे आ सकते हैं ? अर्थात् देश, काल आदि किसीके भी आधारपर आपको मापा नहीं जा सकता ।

‘अनन्तवीर्यम्’—आपमें अपार पराक्रम, सामर्थ्य, बल और तेज है । आप अनन्त असीम शक्तिशाली हैं ।

‘अनन्तबाहुम्’\*—आपकी कितनी भुजाएँ हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती । आप अनन्त भुजाओंवाले हैं ।

\* सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने ‘अनेन बाहूदरवक्त्रनेत्रम्’ कहा और यहाँ भी ‘अनन्तबाहुम्’ कहते हैं, तो इसमें पुनरुक्ति सी दीखती है । परन्तु वास्तवमें यह पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ विराटरूप भगवान्‌के देवरूपका

‘शशिसूर्यनेत्रम्’—दुनियामात्रको प्रकाशित करनेवाले— जो चन्द्र और सूर्य हैं, वे आपके नेत्र हैं । इस वास्ते दुनियामात्रको आपसे ही प्रकाश मिलता है ।

‘दीप्तहुताशक्त्रम्’—यज्ञ, होम आदिमें जो कुछ अग्निमें हवन किया जाता है, उन सबको ग्रहण करनेवाले देदीप्यमान अग्निरूप मुखवाले आप ही हैं ।

‘स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्’—अपने तेजसे सम्पूर्ण विश्वको तपानेवाले आप ही हैं । तात्पर्य यह है कि जिन-जिन व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों आदिसे प्रतिकूलता मिल रही है, उन-उनसे ही सम्पूर्ण प्राणी संतप्त हो रहे हैं । संतप्त करनेवाले और संतप्त होनेवाले—दोनों एक ही विराटरूपके अङ्ग हैं ।

श्लोक—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं

लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अर्थ—

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं । आपके इस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित ( व्याकुल ) हो रहे हैं ।

वर्णन है और यहाँ उग्ररूपका वर्णन है । उग्ररूपका वर्णन होनेसे ही यहाँ ‘विश्वमिदं तपन्तम्’ और अगले ( बीसवें ) श्लोकमें ‘दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितम्’ पद आये हैं ।

व्याख्या—

‘महात्मन्’—इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आपके स्वरूपके समान किसीका स्वरूप हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। इस वास्ते आप ‘महात्मा’ अर्थात् महान् स्वरूपवाले हैं।

‘द्यावापृथिव्योरिदमन्तरंहि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वा’—स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें जितना अन्काश है, पोलाहट है, वह सब पोलाहट आपसे परिपूर्ण हो रही है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, पूर्व उत्तरके बीचमें ‘ईशान’, उत्तर-पश्चिमके बीचमें ‘रायः’, पश्चिम-दक्षिणके बीचमें ‘नैर्ऋत्य’ और दक्षिण-पूर्वके बीचमें ‘आग्नेय’, तथा ऊपर और नीचे—ये दसों दिशाएँ अपने व्याप्त हैं अर्थात् इन सबमें आप ही-आप विराजमान हैं।

‘दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्ययितम्’—[ उन्नीसवें श्लोकमें तथा तीसरे श्लोकके पूर्वार्थमें उग्ररूपका वर्णन करके अत्र बीसवें श्लोकके उत्तरार्धसे बाईसवें श्लोकतक अर्जुन उग्ररूपके परिणामका वर्णन करते हैं—] आपके इस अद्भुत, विश्वरूप, अचौकिक, आश्चर्यजनक, महान् देदीप्यमान और भयकर उग्ररूपको देखकर स्वर्ग, मृत्यु और पाताल-लोकमें रहनेवाले सभी प्राणी व्यथित हो रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं।

यद्यपि इस श्लोकमें स्वर्ग और पृथ्वीकी ही बात आयी है ( द्यावापृथिव्यो. ), तथापि अर्जुनद्वारा ‘लोकत्रयम्’ कहनेके अनुसार यहाँ पाताल भी ले सकते हैं। कारण कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के

शरीरके किसी एक देशमें जा रही है और वहाँ अर्जुनको जो दीख रहा है, वह दृश्य कभी पातालका है, कभी मृत्युलोकका है और कभी स्वर्गका है। इस तरह अर्जुनकी दृष्टिके सामने सब दृश्य बिना क्रमके आ रहे हैं\* ।

यहाँपर एक शङ्का होती है कि अगर विराटरूपको देखकर त्रिलोकी व्यथित हो रही है, तो दिव्यदृष्टिके बिना त्रिलोकीने विराटरूपको कैसे देखा ? भगवान् ने तो केवल अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी। त्रिलोकीको विराटरूप देखनेके लिये दिव्यदृष्टि किसने दी ? कारण कि प्राकृत चर्मचक्षुओंसे यह विराटरूप नहीं देखा जा सकता, जबकि 'विश्वमिदं तपन्तम्' ( ११ । १९ ) और 'लोकत्रयं प्रव्यथितम्' पदोंसे विराटरूपको देखकर त्रिलोकीके संतप्त और व्यथित होनेकी बात अर्जुनने कही है।

\* अर्जुनने स्वर्गसे पातालतक तथा पातालसे स्वर्गतक क्रमपूर्वक विश्वरूपको देखा हो, ऐसी बात नहीं है। अर्जुन भगवान् की दी हुई दिव्यदृष्टिसे स्वर्ग, भूमण्डल, पाताल आदि सबको एक साथ देख रहे हैं; और जैसे देख रहे हैं, वैसे ही बोल रहे हैं—'हे देव ! मैं आपकी देहमें देवताओंको देख रहा हूँ, प्राणियोंके अलग-अलग समुदायोंको देख रहा हूँ, कमलपर विराजमान ब्रह्माजीको देख रहा हूँ, कैलाशपर विराजमान शङ्करको देख रहा हूँ, सम्पूर्ण ऋषियोंको देख रहा हूँ, दिव्य सपोंको देख रहा हूँ, ( ११ । १५ ) आदि-आदि। अर्जुनको ऐसा कहनेमें तो देरी लगी है, पर ऐसा ( सबको एक साथ ) देखनेमें देरी नहीं लगी। इस वास्ते अर्जुनके वचनोंमें स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकोंका कोई क्रम नहीं है।

इसका समाधान यह है कि मनन और व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी उस विराटरूपके अन्तर्गत ही है अर्थात् विराटरूपका ही अङ्ग है । सजयने और भगवान्‌ने विराटरूपको एक देशमें देखनेकी बात ( एतस्थम् ) कही, पर अर्जुनने एक देशमें देखनेकी बात नहीं कही । कारण कि विराटरूप देवते हुए भगवान्‌के शरीरकी तरफ अर्जुनका ग्याल ही नहीं गया । उनकी दृष्टि केवल विराटरूपकी तरफ ही बह गयी । जब सारथिर्‍रूप भगवान्‌के शरीरकी तरफ भी अर्जुनकी दृष्टि नहीं गयी, तो मनन और व्यथित होनेवाले इस लौकिक ससारकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि कैसे जा सकती है ? इससे सिद्ध होता है कि सतत होनेवाला और सतत करनेवाला तथा व्यथित होनेवाला और व्यथित करनेवाला—ये चारो उस विराटरूपके ही अङ्ग हैं । अर्जुनको ऐसा दीव रहा है कि त्रिलोकी विराटरूपको देखकर व्यथित, भयभीत हो रही है, पर वास्तवमें ( विराटरूपके अन्तर्गत ) भयानक सिंह, व्याघ्र, साप आदि जन्तुओं और मृत्युको देखकर त्रिलोकी भयभीत हो रही है ।

देवने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण ससार भगवान्‌के दिव्य विराटरूपका ही एक छोटा-सा अङ्ग है । ससारमें जो जड़ता परिवर्तनशीलता, अदिव्यता दीखती है, वह वस्तुतः दिव्य विराटरूपकी ही एक शल्यक है, एक लीला है । विराटरूपकी जो दिव्यता है, उसकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर ससारकी जो अदिव्यता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । अर्जुनको तो दिव्यदृष्टिसे भगवान्‌का विराटरूप दीखा, पर भक्तोंको भावदृष्टिसे यह ससार भगवत्स्वरूप



शरीरके किसी एक देशमें जा रही है और वहाँ अर्जुनको जो दीख रहा है, वह दृश्य कभी पातालका है, कभी मृत्युलोकका है और कभी स्वर्गका है । इस तरह अर्जुनकी दृष्टिके सामने सब दृश्य बिना क्रमके आ रहे हैं\* ।

यहाँपर एक शङ्का होती है कि अगर विराटरूपको देखकर त्रिलोकी व्यथित हो रही है, तो दिव्यदृष्टिके बिना त्रिलोकीने विराटरूपको कैसे देखा ? भगवान् ने तो केवल अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी । त्रिलोकीको विराटरूप देखनेके लिये दिव्यदृष्टि किसने दी ? कारण कि प्राकृत चर्मचक्षुओंसे यह विराटरूप नहीं देखा जा सकता, जबकि 'विश्वमिदं तपन्तम्' ( ११ । १९ ) और 'लोकत्रयं प्रव्यथितम्' पदोंसे विराटरूपको देखकर त्रिलोकीके संतप्त और व्यथित होनेकी बात अर्जुनने कही है ।

\* अर्जुनने स्वर्गसे पातालतक तथा पातालसे स्वर्गतक क्रमपूर्वक विश्वरूपको देखा हो, ऐसी बात नहीं है । अर्जुन भगवान् की दी हुई दिव्यदृष्टिसे स्वर्ग, भूमण्डल, पाताल आदि सबको एक साथ देख रहे हैं; और जैसे देख रहे हैं, वैसे ही बोल रहे हैं—'हे देव ! मैं आपकी देहमें देवताओंको देख रहा हूँ, प्राणियोंके अलग-अलग समुदायोंको देख रहा हूँ, कमलपर विराजमान ब्रह्माजीको देख रहा हूँ, कैलाशपर विराजमान शङ्करको देख रहा हूँ, नगपूर्ण ऋषियोंको देख रहा हूँ, दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ, ( ११ । १५ ) आदि-आदि । अर्जुनको ऐसा कहनेमें तो देरी लगी है, पर ऐसा ( सबको एक साथ ) देखनेमें देरी नहीं लगी । इस वास्ते अर्जुनके वचनोंमें स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकोंका कोई क्रम नहीं है ।

इसका समाधान यह है कि सतत और व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी उस विराटरूपके अन्तर्गत ही है अर्थात् विराटरूपका ही अङ्ग है। सजयने और भगवान्‌ने विराटरूपको एक देशमें देखनेकी बात ( षष्ठ्यम् ) नहीं, पर अर्जुनने एक देशमें देखनेकी बात नहीं कही। कारण कि विराटरूप देखते हुए भगवान्‌के शरीरकी तरफ अर्जुनका न्याल ही नहीं गया। उनकी दृष्टि केवल विराटरूपकी तरफ ही बह गयी। जब सारंगरूप भगवान्‌के शरीरकी तरफ भी अर्जुनकी दृष्टि नहीं गयी, तो मनन और व्यथित होनेवाले इस लौकिक ससारकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि कैसे जा सकती है ? इससे सिद्ध होता है कि सतत होनेवाला और सतत करनेवाला तथा व्यथित होनेवाला और व्यथित करनेवाला—ये चारों उस विराटरूपके ही अङ्ग हैं। अर्जुनको ऐसा दीया रहा है कि त्रिलोकी विराटरूपको देखकर व्यथित, भयभीत हो रही है, पर याम्तरामे ( विराटरूपके अन्तर्गत ) भयानक सिंह, व्याघ्र, साप आदि चन्नुओंको और मृत्युको देखकर त्रिलोकी भयभीत हो रही है।

देखने, सुनने और समझनेमें जानेवाला सम्पूर्ण ससार भगवान्‌के दिव्य विराटरूपका ही एक लोकात्मा अङ्ग है। समारमें जो जड़ता परिमर्नशीलता, अद्वयता दावनी है, वह प्रस्तुत दिव्य विराटरूपकी ही एक शक्ति है, एक शक्ति है। विराटरूपकी जो दिव्यता है, उसकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर समारकी जो अद्वयता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्जुनको तो दिव्यदृष्टिमें भगवान्‌का विराटरूप दीया, पर भक्तोंको भावदृष्टिमें यह ससार भावद्वारा

ता है—‘वासुदेवः सर्वम्’ । तात्पर्य है कि जैसे वचनमें कंकड़-पत्थरोंमें जो भाव रहता है, वैसा भाव बड़े होनेपर ही रहता; बड़े होनेपर कंकड़-पत्थर उसे आकृष्ट नहीं करते, ऐसे ही भोगदृष्टि रहनेपर संसारमें जो भाव रहता है, वह भाव भोगदृष्टिके मिटनेपर नहीं रहता ।

जिनकी भोगदृष्टि होती है, उनको तो संसार सत्य दीखता है, पर जिनकी भोगदृष्टि नहीं है, ऐसे महापुरुषोंको संसार भगवत्स्वरूप ही दीखता है । जैसे एक ही ली बालकको माँके रूपमें, पिताको पुत्रीके रूपमें, पतिको पत्नीके रूपमें और सिंहको भोजनके रूपमें दीखती है, ऐसे ही यह संसार ‘चर्मदृष्टि’से सच्चा, ‘विवेकदृष्टि’ परिवर्तनशील, ‘भावदृष्टि’से भगवत्स्वरूप और ‘दिव्यदृष्टि’से विराट् रूपका ही एक छोटा-मा अङ्ग दीखता है ।

सम्बन्ध—

अब अर्जुनका दृष्टिके सामने ( विराटरूपमें ) स्वर्गादि का दृश्य आना है और वे उसका वर्णन अगले दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति  
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति  
स्वस्तान्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः  
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः

अर्थ—

वे ही देवताओंके समुदाय आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं तो भयभीत होकर हाथ जोड़ें हुए आपके नामों

कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो ! कल्याण हो !' ऐसा कष्टकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या—

'अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति'—जब अर्जुन स्वर्गमें गये थे, उस समय तन्का जिन देवताओंसे परिचय हुआ था, उन्हीं देवताओंके लिये यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि वे-के-वे देवताओं आपके स्वरूपमें प्रविष्ट होते हुए दीख रहे हैं। ये नभी देवता आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही स्थित रहने हैं और अपने ही प्रविष्ट होते हैं।

और बड़े उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपको स्तुतियाँ हो रही हैं ।

श्लोक—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या  
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।  
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा  
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

अर्थ—

जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उन्चास मरुद्गण, सात पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं ।

व्याख्या—

‘रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च’—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, दो अश्विनीकुमार और उन्चास मरुद्गण—इन सबके नाम इसी अध्यायके छठे श्लोककी व्याख्यामें दिये गये हैं, इसलिये वहाँ देख लेना चाहिये ।

मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, वित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और त्रिभु—ये बारह ‘साध्य’ हैं ( वायुपुराण ६६ । १५-१६ ) ।

क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस ‘विश्वेदेव’ हैं ( वायुपुराण ६६ । ३१ ३२ ) ।

श्लोक २३ ] गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन १६३

कव्यराह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निग्यात् और वर्हिषत्  
—ये सात 'पितर' हैं ( शिवपुराण धर्म० ६३।२ )। ऊष्म  
अर्थात् गरम अन्न खानेके कारण पितरोंका नाम 'ऊष्मपा' है।

'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः'—कश्यपजीकी पत्नी मुनि और  
प्राधासे तथा अरिटासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई है। गन्धर्वजोग  
राग-रागिनियोंकी विधामें बड़े बजुर हैं। ये स्वर्गजोकके गायक हैं।

कश्यपजीकी पत्नी स्वसासे यक्षोंकी उत्पत्ति हुई है।

देवताओके विरोधी\* दैत्या, दानवों और राक्षसोंको अप्सुर  
कहते हैं। कपिल आदिको सिद्ध कहते हैं।

'बोक्षन्ते त्वां विदिमनाश्चेव सर्वे'—उपर्युक्त सभी देवता,  
पितर, गन्धर्व, यक्ष आदि चकित होकर आपसे देख रहे हैं।  
ये सभी देवता आदि निरादृशरूपके ही अंग हैं।

सम्बन्ध—

अ० अर्जुन अगले तीन श्लोकोंमें विश्वरूपके महान् विकराल  
रूपका वर्णन करके उसका परिणाम बताते हैं।

श्लोक—

|        |                  |                                 |
|--------|------------------|---------------------------------|
| रूपं   | महत्ते           | बहुवपत्रनेत्रं                  |
|        | महाबाहो          | बहुबाहुरूपादम् ।                |
| बहूदरं | बहुदंष्ट्राकरालं |                                 |
|        | दृष्ट्वा         | लोकाः प्रव्यथितास्तथादम् ॥ २३ ॥ |
|        | अर्प—            |                                 |

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत भुजा,

● जहाँ देवताओं और असुरोंका एक साथ वर्णन आता है, वहाँ  
(असुर) शब्द देवताओंके विरोधी अर्थमें आता है।

जंघा और चरणोंवाले, बहुत उदरोंवाले, बहुत विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ ।

व्याख्या—

[पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक विश्वरूपमें 'देव'-रूपका, उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक 'उग्र'-रूपका और तेईसवेंसे तीसवें श्लोकतक 'अत्यन्त उग्र'-रूपका वर्णन हुआ है । ]

'बहुवक्षत्रनेत्रम्'—आपके मुख एक-एकसे नहीं मिलते । कई मुख सौम्य हैं और कई विकराल हैं । कई मुख छोटे हैं और कई बड़े हैं । ऐसे ही आपके जो नेत्र हैं, वे भी सभी एक समान नहीं दीख रहे हैं । कई नेत्र सौम्य हैं और कई विकराल हैं । कई नेत्र छोटे हैं, कई बड़े हैं, कई लम्बे हैं, कई चौड़े हैं, कई गोल हैं, कई टेढ़े हैं आदि-आदि ।

'बहुबाहुरूपादम्'—हाथोंकी बनावट, वर्ण, आकृति और उनके कार्य विलक्षण-विलक्षण हैं । जंघाएँ विचित्र-विचित्र हैं और चरण भी तरह-तरहके हैं ।

'बहूदरम्'—पेट भी एक समान नहीं है । कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई भयंकर आदि कई तरहके पेट हैं ।

'बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्'—मुखोंमें बहुत प्रकारकी विकराल दाढ़ें हैं । ऐसे महान् भयंकर, विकराल रूपको देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ।

इस श्लोकसे पहले कहे हुए श्लोकोंमें भी अनेक मुखों, नेत्रों आदिकी ओर सब लोगोंके भयभीत होने की बात आयी है। अतः अर्जुन एक ही बात बार-बार क्यों कह रहे हैं ? इसका कारण है कि—( १ ) विराटरूपमें अर्जुनकी दृष्टिके सामने जो-जो रूप आता है, उस-उसमें उनको नयी-नयी विचित्रगता और अद्भुतता दीख रही है।

( २ ) विराटरूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा गये, चकित हो गये, चकरा गये, व्यथित हो गये कि उनको यह झपाळ ही नहीं रहा कि मैंने क्या कहा है और मैं क्या कह रहा हूँ ?

( ३ ) पहले तो अर्जुनने तीनों लोकोंके व्यथित होने की बात कही थी, पर यहाँ सब प्राणियोंके साथ-साथ स्वयंके भी व्यथित होनेकी बात कहते हैं।

( ४ ) एक बातको बार-बार कहना अर्जुनके भयभीत और आश्चर्यचकित होनेका चिह्न है। संसारमें देवा भी जाता है कि जिसको भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि होते हैं, उसके मुखसे स्वाभाविक ही किसी शब्द या वाक्यका बार-बार उच्चारण हो जाता है; जैसे—कोई साँपको देखकर भयभीत होता है तो वह बार-बार 'साँप ! साँप ! साँप !' ऐसा कहता है। कोई सज्जन पुरुष आता है तो हर्षमें भरकर कहते हैं—आइये ! आइये ! आइये। कोई प्रिय व्यक्ति मर जाता है तो शोकाकुल होकर कहते हैं—मैं मारा गया, मारा गया ! घरमें अँधेरा हो गया, अँधेरा हो गया ! अचानक कोई अज्ञान आ जाती है तो मुखसे निकलता है—मैं मरा ! मरा ! मरा ! ऐसे ही



# गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन [ अ० ११ ]

विश्वरूप-दर्शनमें अर्जुनके द्वारा भय और हर्षके कारण कुछ  
 दोँ और वाक्योंका बार-बार उच्चारण हुआ है । अर्जुनने भय  
 र हर्षको स्वीकार भी किया है—‘अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा  
 येन च प्रव्यथितं मनो मे’ ( ११ । ४५ ) तात्पर्य है कि भय,  
 हर्ष, शोक आदिमें एक बातको बार-बार कहना पुनरुक्ति दोष नहीं  
 माना जाता ।

श्लोक—  
 नमःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं  
 व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।  
 दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा  
 धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥  
 अर्थ—

हे विष्णो ! आपके अनेक वर्ण हैं, आप आकारको स्पर्श  
 रहे हैं, आपका मुख फैला हुआ है, आपके नेत्र प्रदीप्त और वि  
 हैं । ऐसे देदीप्यमान आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवा  
 धैर्य और शान्तिको प्राप्त नहीं हो रहा हूँ ।

व्याख्या—  
 [ वीसवें श्लोकमें तो अर्जुनने विराटरूपकी लम्बाई-चै  
 वर्णन किया, अब यहाँ केवल लम्बाईका वर्णन करते हैं । ]  
 ‘विष्णो’—आप साक्षात् सर्वव्यापक विष्णु हैं; जिन्हों  
 का भार दूर करनेके लिये कृष्णरूपसे अवतार लिया है ।  
 ‘अनेकवर्णम्’—आपके काल, पीला, श्याम, गौर अ  
 वर्ण हैं ।

‘नभःस्पृशम्’—आपका स्वरूप इतना लम्बा है कि वह आकाशको स्पर्श कर रहा है ।

वायुका गुण होनेसे स्पर्श वायुका ही होता है, आकाशका नहीं। फिर यहाँ आकाशको स्पर्श करनेका तात्पर्य क्या है ? मनुष्यकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक तो उसको आकाश दीखता है, पर उसके आगे कालापन दिखायी देता है । कारण कि जब दृष्टि आगे नहीं जाती, धक जाती है तो वह वहाँसे लौटती है, जिससे आगे कालापन दीखता है । यही दृष्टिका आकाशको स्पर्श करना है । ऐसे ही अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको भगवान्का विराटरूप दिखायी देता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्का विराटरूप असीम है, जिसके सामने दि-यदृष्टि भी सीमित ही है !

‘ध्यात्ताननं क्षीप्तविशालनेत्रम्’—जैसे कोई भयानक जन्तु किसी जन्तुको खानेके लिये अपना मुख फैलाता है, ऐसे ही मात्र विश्वको चट करनेके लिये आपका मुख फैला हुआ दीख रहा है ।

आपके नेत्र बड़े ही देदीप्यमान और विशाल दीख रहे हैं ।

‘दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शनं च विष्णो’—इस तरह आपको देखकर मैं भीतरसे बहुत व्यथित हो रहा हूँ । मेरेको कहींसे भी धैर्य नहीं मिल रहा है और शक्ति भी नहीं मिल रही है ।

यहाँ एक शङ्का होती है कि अर्जुनमे एक तो खुदकी शक्ति है और दूसरी, भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य ( दिव्यदृष्टि ) है। फिर भी अर्जुन तो विश्वरूपको देखकर डर गये, पर संज

क्या कारण है ? सन्तोंसे ऐसा सुना है कि भीष्म, विदुर, संजय और कुन्ती—ये चारों भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको, विशेषतासे जाननेवाले थे । इस वास्ते संजय पहलेसे ही भगवान्के तत्त्वको, उनके प्रभावको जानते थे, जबकि अर्जुन भगवान्के तत्त्वको उतना नहीं जानते थे । अर्जुनका विमूढ़भाव ( मोह ) अभी सर्वथा दूर नहीं हुआ था ( गीता ११ । ४९ ) । इस विमूढ़भावके कारण अर्जुन भयभीत हुए । परन्तु संजय भगवान्के तत्त्वको जानते थे अर्थात् उनमें विमूढ़भाव नहीं था, इस वास्ते वे भयभीत नहीं हुए ।

उपर्युक्त विवेचनसे एक बात सिद्ध होती है कि भगवान् और महापुरुषोंकी कृपा विशेषरूपसे अयोग्य पुरुषोंपर होती है, पर उस कृपाको विशेषरूपसे योग्य पुरुष ही जानते हैं । जैसे, छोटे बच्चेपर माँका ज्यादा स्नेह होता है, पर बड़ा लड़का माँको जितना जानता है, उतना छोटा बच्चा नहीं जानता । ऐसे ही भोले-भाले, सीधे-सादे ब्रजवासी, ग्वालवाल, गोप-गोपी और गाय—इनपर भगवान् जितना अधिक स्नेह करते हैं, उतना स्नेह जीवन्मुक्त महापुरुषोंपर नहीं करते । परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष ग्वालवाल आदिकी अपेक्षा भगवान्को विशेषरूपसे जानते हैं । संजयने विश्वरूपके लिये प्रार्थना भी नहीं की और विश्वरूपको देख लिया । परन्तु विश्वरूप देखनेके लिये अर्जुनको स्वयं भगवान्ने ही उत्कृष्टत क्रिया और अपना विश्वरूप भी दिखाया; क्योंकि संजयकी अपेक्षा भगवान्के तत्त्वको जाननेमें अर्जुन छोटे थे और भगवान्के साथ सखाभाव रखते थे । इस वास्ते अर्जुनपर भगवान्की कृपा ज्यादा थी । इस कृपाके कारण

अन्तमें अर्जुनका मोह भी नष्ट हो गया—‘नष्टो मोहः त्वत्प्रसादात्’ (गीता १८। ७३) इससे सिद्ध होता है कि कुरापतवश मोह अन्तमें नष्ट हो ही जाता है ।

श्लोक—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि  
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।  
दिशो न जाने न लभे च शर्म  
प्रसोद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

अर्थ—

आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण विकराल ( भयानक ) मुखोंको देखकर मेरेको न तो दिशाओंका ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है । इस वास्ते हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ।

व्याख्या—

‘दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि’—महाप्रलयके समय सम्पूर्ण त्रिलोकीको भस्म करनेवाली जो अग्नि प्रकट होनी है, उसे संवर्तक अथवा काळाग्नि कहते हैं । उस काळाग्निके समान आपके मुख हैं, जो भयंकर-भयंकर दाढ़ोंके कारण बहुत विकराल हो रहे हैं । उनको देखनेमात्रसे ही बड़ा भय लग रहा है । अगर उनका कार्य देखा जाय तो उसके सामने किमीका टिकना ही मुश्किल है ।

‘दिशो न जाने न लभे च शर्म’—ऐसे विकराल मुखोंको देखकर मेरेको दिशाओंका भी ज्ञान नहीं हो रहा है । इसका तात्पर्य है कि दिशाओंका ज्ञान होता है सूर्यके उदय और अस्त होनेसे । पर वह सूर्य

तो [आपके नेत्रोंकी जगह है अर्थात् वह तो आपके विराटरूपके अन्तर्गत आ गया है । इसके सिवाय आपके चारों ओर महान् प्रज्वलित प्रकाश-ही-प्रकाश दीख रहा है ( ११ । १२ ), जिसका न उदय और न अस्त हो रहा है । इस वास्ते मेरेको दिशाओंका ज्ञान नहीं हो रहा है और विकराल मुखोंको देखकर भयके कारण मैं किसी तरहका सुख और शान्ति भी प्राप्त नहीं कर रहा हूँ ।

‘प्रसीद देवेश जगन्निवास’—आप सब देवताओंके मालिक हैं और सम्पूर्ण संसार आपमें ही निवास कर रहा है । अतः कोई भी देवता, मनुष्य भयभीत होनेपर आपको ही तो पुकारेगा । आपके सिवाय और किसको पुकारेगा ! तथा और कौन सुनेगा ! इस वास्ते मैं भी आपको पुकारकर कह रहा हूँ कि हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ।

भगवान्के विकराल रूपको देखकर अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् मानो बड़े क्रोधमें आये हुए हैं । इस भावनाको लेकर ही भयभीत अर्जुन भगवान्से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं ।

सम्बन्ध—

अब अर्जुन अगले दो श्लोकोंमें मुख्य-मुख्य योद्धाओंका विराटरूपमें प्रवेश होनेका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

अभी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सहैवावनिपालसहैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति  
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु  
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥  
अर्थ—

हमारे मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और वह कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। राजाओंके समुदायोके सहित धृतराष्ट्रके वे सबके-सब पुत्र विकराल दाढोके कारण भयंकर आपके मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं।

व्याख्या—

‘भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः—  
हमारे पक्षके धृष्टद्युम्न, विराट्, द्रुपद आदि जो मुख्य-मुख्य योद्धालोग हैं, वे सबके-सब धर्मके पक्षमें हैं और केवल अपना कर्तव्य समझकर युद्ध करनेके लिये आये हैं। हमारे इन सेनापतियोके साथ पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, और वह प्रसिद्ध सूतपुत्र कर्ण आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

यहाँ भीष्म, द्रोण और कर्णका नाम लेनेका तात्पर्य है कि ये तीनों ही अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये युद्धमें आये हैं\*।

● भीष्म—भीष्मजीकी प्रतिज्ञा दुनियामें प्रसिद्ध है कि उन्होंने पिताजीकी प्रसन्नताके लिये ब्याह न करनेकी प्रतिज्ञा की और आजा ब्रह्मचारी रहे। इस प्रतिज्ञापर वे इतने दृढ़ रहे कि गुरु परशुरामर्ष के साथ युद्ध किया, पर अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी। भगवान्ने पह हाथमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। परन्तु जब भीष्मजी

‘अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः’—  
दुर्योधनके पक्षमें जितने राजालोग हैं, जो युद्धमें दुर्योधनका प्रिय

( भगवान्की प्रतिज्ञाके विरुद्ध ) यह प्रतिज्ञा कर ली कि ‘जो हरि हाथ न शस्त्र गहाऊँ, तो लाजों गंगा जननीको शान्तनु सुत न कहाऊँ’ तो भगवान्को भी अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर एक बार चाबुक और दूसरी बार चक्र लेकर भीष्मजीकी तरफ दौड़ना पड़ा । इस तरह भीष्मजीकी प्रतिज्ञा बनी रही और भगवान्की प्रतिज्ञा टूट गयी ।

द्रोण—द्रोणाचार्य दुर्योधनका अन्न खाकर उसके वृत्तिभोगी रहे हैं । इस वास्ते वे युद्धको अपना कर्तव्य समझकर युद्धमें लग जाते हैं और अन्तमें देवताओंकी बातें सुनकर युद्धमें अपने ब्राह्मणोचित धर्मको समझकर युद्धसे उपरत हो जाते हैं ।

द्रोणाचार्यमें इतनी निष्पक्षता थी कि गुरुभक्त और विद्यामें तत्पर अर्जुनको ब्रह्मास्त्र छोड़ना और उसका उपसंहार करना ( वापस लेना )—ये दो विद्याएँ सिखा दीं, परन्तु अपने पुत्र अश्वत्थामाको केवल ब्रह्मास्त्र छोड़ना ही सिखाया, उपसंहार करना सिखाया ही नहीं ।

कर्ण—कर्णकी दुर्योधनके साथ मित्रता थी, उस मित्रतारूप कर्तव्यको निभानेके लिये वे युद्धमें आते हैं । भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ‘कर्ण ! तू कुन्तीका बेटा है, ऐसा कहनेपर भी वे दुर्योधनके पक्षमें ही रहे और उन्होंने भगवान्से कहा कि ‘यह बात आप धर्मराज युधिष्ठिरसे मत कहना; क्योंकि अगर उनको पता लग जायगा तो मेरेको बड़ा समझकर वे राज्य मेरेको दे देंगे और मैं राज्य दुर्योधनको दे दूँगा । इससे पाण्डव सदाके लिये दुःखी रहेंगे ।’

कर्ण बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे । वे विचित्र ही दानवीर थे । इन्द्रके माँगनेपर उन्होंने अपने नैसर्गिक ( जन्मजात ) कुण्डल और कवच उतारकर दे दिये थे । माता कुन्तीके माँगनेपर उन्होंने उनको पाँच

करना चाहते हैं\* अर्थात् दुर्योधनको हितकी सलाह नहीं दे रहे हैं, उन सभी राजाओंके समूहोंके साथ धृतराष्ट्रके दुर्योधन, दुःशास आदि सौ पुत्र निकराल दाढ़ोंके कारण अत्यन्त भयानक आपसे मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रवेश कर रहे हैं—‘वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशान्त दंष्ट्राकरालानि भयानकानि’ ।

निराट्‌रूपमें वे चाहे भगवान्‌में प्रवेश करें, चाहे मुखोंमें जायँ वह एक ही छीला है । परन्तु भावोंके अनुसार उनकी गतियाँ अलग-अलग प्रतीत हो रही हैं । इस वास्ते भगवान्‌में जायँ अथवा मुखोंमें जायँ, वे हैं तो निराट्‌रूपमें ही ।

‘केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः— जैसे, खाद्य-पदार्थमें कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाने समय सीधे पेटमें चले जाते हैं, पर कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाने समय दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँस जाते हैं । ऐसे ही आपके मुखोंमें प्रविष्ट होनेवालोंमेंसे कई एक तो सीधे भीतर ( पेटमें ) चले जा रहे हैं, पर कई एक चूर्ण हुए मस्तकोंसहित आपके दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं ।

पुन दे दिये, जिसमें उन्होंने कहा कि ‘माँ ! मैं युधिष्ठिर, भीम, नकुल, और सहदेवको तो मारूँगा नहीं, पर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध होगा । युद्धमें अगर अर्जुन मेरेको मार देगा, तो तेरे पाँच पुत्र रहेंगे ही और अगर मैं अर्जुनको मार दूँगा, तो भी मेरेसहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे ॥’



यहाँ एक शङ्का होती है कि योद्वालोग तो अभी सामने युद्ध-क्षेत्रमें खड़े हुए हैं, फिर वे अर्जुनको विराटरूपके मुखोंमें जाते हुए कैसे दिखायी दिये ? इसका समाधान यह है कि भगवान् विराटरूपमें अर्जुनको आसन्न भविष्यकी बात दिखा रहे हैं । भगवान्ने विराटरूप दिखाते समय अर्जुनसे कहा था कि तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी मेरे इस विराटरूपमें देख ले ( ११।७ ) अर्जुनके मनमें यह सन्देह था कि युद्धमें हमारी जीत होगी या कौरवोंकी ? ( २।६ ) इस वास्ते उस सन्देहको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आसन्न भविष्यका दृश्य दिखाकर मानो यह बताते हैं कि युद्धमें तुम्हारी ही जीत होगी । आगे अर्जुनके द्वारा प्रश्न करनेपर भी भगवान्ने यही बात कही है ( ११।३२-३४ ) ।

सम्बन्ध—

जो अपना कर्तव्य समझकर धर्मकी दृष्टिसे युद्धमें आये हैं और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले हैं—ऐसे पुरुषोंका विराटरूपमें नदियोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन अगले श्लोकोंमें करते हैं ।

श्लोक— १

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा

विशन्ति वषत्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

अर्थ—

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके

श्लोक २८ ] गोताकी विभूति और विभ्यरूप-दर्शन १७५

सम्मुख ही दौड़ते हैं, ऐसे ही वे संसारके महान् शूरीर भी आपके प्रखलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।

व्याख्या—

‘यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेषाभिमुखा द्रवन्ति’—  
 मूलमें जलमात्र समुद्रका है । वही जल बादलोंके द्वारा पराक्षरूपमें पृथ्वीपर उतरकर झरने, नाले आदिको लेकर नदियोंका रूप धारण करता है । उन नदियोंके जिनके वेग हैं, प्रवाह हैं, वे सभी स्वाभाविक ही समुद्रकी तरफ ही दौड़ते हैं । कारण कि जलका उद्गमस्थान समुद्र ही है । वे सभी जल-प्रवाह समुद्रमें जाकर अपने नाम और रूपको छोड़कर अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि नामोंको और प्रवाहके रूपको छोड़कर समुद्ररूप ही हो जाते हैं । किन्तु वे जल-प्रवाह समुद्रके मिराय अपना कोई अलग स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते । वास्तवमें तो उनका स्वतन्त्र अस्तित्व पहले ही नहीं था, केवल नदियोंके प्रवाहरूपमें होनेके कारण वे अलग दौड़ने थे ।

‘तथा तवामो नरलोकर्वारा विशन्ति वक्त्राण्यपि विन्दन्ति’—  
 नदियोंकी तरह ही मात्र जोव नियमुखकी ओंकाराको लेकर परमात्माके सम्मुख ही दौड़ते हैं । परन्तु मूलमें अमर, नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे वे सासारिक संप्रद और संयोग-जन्य सुखमें लगे जाते हैं तथा अपना अलग अस्तित्व भूलने लगते हैं । उन जीवोंमें वे ही नास्तविक शूरीर हैं, जो संसारिक सुखभोगमें न लगे, जिसके लिये शरीर भिन्न है, र प्राणिके मार्गमें ही तपस्यासे लगे हुए हैं । ऐसे सुः

भीष्म, द्रोण आदि नरलोकवीर आपके प्रकाशमय ( ज्ञानस्वरूप ) मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

सामने दीखनेवाले लोगोंमें परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले लोग विलक्षण हैं और बहुत थोड़े हैं । इस वास्ते उनके लिये परोक्षवाचक पद 'अमी' ( वे ) दिया गया है ।

सम्बन्ध—

जो राज्य और प्रशंसाके लोभसे युद्धमें आये हैं और जो सांसारिक संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं—ऐसे पुरुषोंका विराटरूपमें पतंगोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा

विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-

स्तत्वापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

अर्थ—

जैसे पतंगे मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लोग मोहवश अपना नाश करनेके लिये ही बड़े वेगसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

व्याख्या—

'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः'—  
जैसे हरी-हरी धारुने रहनेवाले पतंगे चातुर्मासकी अंधेरी रात्रिमें कहीं-  
पर प्रज्वलित अग्नि देखते हैं, तो उसपर मुग्ध होकर ( कि बहुत

सुन्दर प्रकाश मिल गया, हम इससे लाभ ले लेंगे, हमारा अँधेरा मिट जायगा ) उसकी तरफ वड जोरसे दौडते हैं । उनमेंसे कुठ तो प्रज्वलित अग्निमें त्याहा हो जाते ह, कुठको अग्निकी थोड़ी-सी लपट लग जाती हे तो उनका उडना बढ हो जाता ह और वे तडपते रहते हैं । फिर भी उनकी लालमा उस अग्निकी तरफ ही रहती हे । यदि कोई पुरुष दया करे उस अग्निको बुझा देता हे तो वे पतमे उड दु गी हो जाते हैं कि उसने हमारेको उड लाभसे उच्चित कर दिया ।

‘तथैव नाशाय विशग्नि लोकास्तथापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः’

—भोग भोगने और सप्रह करनेमें ही त परतापूर्ण लगे रहना और मनमें भोगे और सप्रहना ही चिन्तन होते रहना—यह बढा हुआ सासारिक वेग ह । पसे वेगमाले दुर्योजनादि राजालोग पतगोकी तरह बड़ी तेजीसे शलचक्ररूप आपके मुखमें जा रहे हैं अर्थात् पतनकी तरफ जा रह है—‘चौरासी लाख योनियो और नरकोकी तरफ जा रह है । ना पर्य यह हुआ कि प्राय मनुष्य सासारिक भोग, सुख, आगम, मान, आदर आदिको प्राप्त करनेके लिये रात-दिन दौडते हैं । उनको प्राप्त करनेमें उनका अपमान होत ह, निन्दा होती ह, घाग लगता ह, चिंता होती ह, अन्त मरण जलन होती हे ओर निस आयु मरपर वे जी रहे हैं, वह आयु भी समाप्त होती जाती ह, फिर भी वे नाशयान् भोग ओर सप्रहकी प्रतिके लिय भीतरसे लालायित रहत हैं ।\*

• अज्ञानन् माहात्म्य वतति शलभो दीपदहने

न भीत उ १२।१।२।३।४।५।६।७।८।९।१०।११।१२।१३।१४।१५।१६।१७।१८।१९।२०।२१।२२।२३।२४।२५।२६।२७।२८।२९।३०।३१।३२।३३।३४।३५।३६।३७।३८।३९।४०।४१।४२।४३।४४।४५।४६।४७।४८।४९।५०।५१।५२।५३।५४।५५।५६।५७।५८।५९।६०।६१।६२।६३।६४।६५।६६।६७।६८।६९।७०।७१।७२।७३।७४।७५।७६।७७।७८।७९।८०।८१।८२।८३।८४।८५।८६।८७।८८।८९।९०।९१।९२।९३।९४।९५।९६।९७।९८।९९।१००।

सम्बन्ध—

पहलेके दो श्लोकोंमें दो दृष्टान्तोंसे दोनों समुदायोंका वर्णन करके अब सम्पूर्ण लोकोंका ग्रसन करते हुए विश्वरूपभगवान्के भयानक रूपका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-

ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

नजंभिरापूर्य

जगत्समग्रं

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

अर्थ—

आप सम्पूर्ण लोगोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा प्राप्त करते हुए चारों तरफसे बार-बार चाट रहे हैं और हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है ।

व्याख्या—

‘लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः’ आप सम्पूर्ण लोगोंका संहार कर रहे हैं और कोई इधर-उधर न चला

विज्ञानन्तोऽप्येते वयमिह विपञ्जालजटिलान्

न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥

( भर्तृहरिवैराग्यशतक )

पतङ्ग दीपकके दाहक स्वरूपको न जाननेके कारण ही उसपर गिरता है; मछली भी अज्ञानवश ही बंसोंमें लगे हुए मांसके टुकड़ोंको निगलती है; परंतु हमलोग जानते हुए भी विपत्तिके जटिल जालमें फँसानेवाली कामनाओंको नहीं छोड़ते; अहो ! मोहकी महिमा बड़ी गहन है ।

जाय इस वास्ते बार-बार जीभके लपेटेसे अपने प्रगल्भित मुखोंमें लेते हुए उनका प्रसन कर रहे हैं। तात्पर्य है कि कालरूप भगवान्की जीभके लपेटेसे कोई भी प्राणी बच नहीं सकता।

‘तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तद्योगाः प्रतपन्ति विष्णो’—  
विराटरूप भगवान्का तेज बड़ा उग्र है। वह उग्र तेज सम्पूर्ण जगत्में परिपूर्ण होकर सबको संतप्त कर रहा है, व्यथित कर रहा है।

सम्भव—

विराटरूप भगवान् अपने विलक्षण-विलक्षण रूपोंका दर्शन कराते ही चले गये। उनके भयंकर और अत्यन्त उग्र रूपके मुखोंमें दोनों पक्षोंके योद्धा जाते देखकर अर्जुन बहुत घबरा गये। अतः अत्यन्त उग्ररूपधारी भगवान्का वास्तविक परिचय जाननेके लिये अर्जुन प्रश्न करते हैं।

श्लोक—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो  
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।  
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं  
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥  
अर्थ—

मेरेको यह बताइये कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं ? हे देवताओमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता।

व्याख्या—

‘आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद’  
—आप त्रिणुरूपसे भी दीख रहे हो, अनन्तरूपसे भी न रहे

हैं और उग्ररूपसे भी दीख रहे हों; तो वान्तवमें ऐसे रूपोंको धारण करनेवाले आप कौन हैं ?

अत्यन्त उग्र विराटरूप देखकर भयके कारण अर्जुन नमस्कारके सिवाय और करते भी क्या ? जब अर्जुन भगवान्‌के ऐसे विराटरूपको समझनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये तो अन्तमें कहते हैं कि हे देवताओं-में श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है ।

भगवान् अपनी जीभसे मयकों अपने मुखोंमें लेकर बार बार चाट रहे हैं, ऐसे मयंकर वर्तावकों देखकर अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि आप प्रमन्न हो जाइयें ।

‘विद्वानुमिच्छामि भयन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्’  
—भगवान्‌का पहला अवतार विराट्- ( संसारके- ) रूपमें ही हुआ था । इन वान्त अर्जुन कहते हैं कि आदिनारायण ! आपको मैं स्पष्टरूपसे नहीं जानता हूँ । मैं आपकी इस प्रवृत्तिको भी नहीं जानता हूँ कि आप यहाँ क्यों प्रकट हुए हैं ? और आपके मुखोंमें हमारे पक्षके तथा विपक्षके बहुत-से योद्धा प्रविष्ट होते जा रहे हैं; अतः वान्तवमें आप क्या करना चाहते हैं ? तात्पर्य यह हुआ कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं—इस बातको मैं जानना चाहता हूँ और इसको आप ही स्पष्टरूपसे बताइयें ।

एक प्रश्न होता है कि भगवान्‌का पहला अवतार विराट्- ( संसारके ) रूपमें हुआ और अभी अर्जुन भगवान्‌के किसी एक देशमें विराटरूप देख रहे हैं—ये दोनों विराटरूप एक ही हैं या





व्याख्या—

[ भगवान्का विश्वरूप विचार करनेपर बहुत विलक्षण माट्टम देता है; क्योंकि उसको देखनेमें अर्जुनकी दिव्यदृष्टि भी पूरी तरहसे काम नहीं कर रही है और वे विश्वरूपको कठिनातासे देखें जानेयोग्य बताते हैं—‘दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्’ ( ११ । १७ ) । यहाँ भी वे भगवान्से पूछ बैठते हैं कि उग्र रूपवाले आप कौन हैं ? ऐसा माट्टम देता है कि अगर अर्जुन भयभीत होकर ऐसा नहीं पूछते तो भगवान् और अधिक विलक्षणरूपसे प्रकट होते ही चले जाते । परन्तु अर्जुनके बीचमें ही पूछनेसे भगवान्ने और आगेका रूप दिखाना बंद कर दिया और अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देने लगे । ]

‘कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः’—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं—‘आख्याहि मे को भवानुग्ररूपः’ उसके उत्तरमें विराटरूप भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण लोकोंका क्षय ( नाश ) करनेवाला बड़े भयंकर रूपसे बढ़ा हुआ अक्षय काल हूँ ।

‘लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः’—अर्जुनने पूछा था कि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जान रहा हूँ—‘न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्’ अर्थात् आप यहाँ क्या करने आये हैं ! उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मैं इस समय दोनों सेनाओंका संहार करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ।

‘ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः’—

तुमने पहले यह कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—  
 'न योत्स्ये' ( २ । ९ ) तो क्या तुम्हारे युद्ध त्रिये त्रिना ये प्रतिपक्षी  
 नहीं मरेंगे ? अर्थात् तुम्हारे युद्ध करने और न करनेसे कोई फरक  
 नहीं पड़ेगा । कारण कि मैं सत्रया सहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ  
 हूँ । यह बात तुमने त्रिराट्-रूपमे भी देख ली है कि तुम्हारे पक्षकी  
 आर त्रिपक्षकी दोनों सेनाएँ मेरे भयकर मुणोंमें त्रिप्रिष्ट हो रही हैं ।

अत यहाँ एक शङ्का होती है कि अर्जुनने अपनी और कौरव-  
 पक्षकी सेनाके सभी लोगोको भगवान् के मुखोंमें जाकर नष्ट होते हुए  
 देखा था, तो फिर भगवान् ने यहाँ केवल प्रतिपक्षकी ही बात क्यों  
 कही कि तुम्हारे युद्ध त्रिये त्रिना भी य प्रतिपक्षी नहीं रहेंगे ?  
 इसका तात्पर्य है कि अगर अर्जुन युद्ध करते तो केवल प्रतिपक्षियोंको  
 ही मारते और युद्ध नहीं करते तो प्रतिपक्षियोंको नहीं मारते । अत  
 भगवान् कहते हैं कि तेरे त्रिना मारे ही न तो ये प्रतिपक्षी बचेंगे  
 और न तुम्हारे पक्षवाले ही बचेंगे, क्योंकि मैं कालरूपसे सबको खा  
 जाऊँगा । तात्पर्य यह है कि इन सबका सहार तो होनेवाला ही है,  
 तू केवल अपने युद्धरूप वर्तव्यका पालन कर ले ।

एक शङ्का यह भी होती है कि यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते  
 हैं कि प्रतिपक्षके योद्धाओग तुम्हारे युद्ध त्रिये त्रिना भी नहीं  
 रहेंगे, फिर इस युद्धमे प्रतिपक्षके अश्वत्थामा आदि योद्धा कैसे बच  
 गये ? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान् ने उन्हीं योद्धाओंके  
 मरनेकी बात कही है, जिनको अर्जुन मार सकते हैं और जिनको  
 अर्जुन आगे मारेंगे । अत भगवान् के कथनका तात्पर्य है कि

अर्जुन इ नर सकता है, वे सभी तेरे मारे बिना ही  
 अर्जुनको तू आगे मारेगा, वे मेरे द्वारा पहलेसे ही  
 'भयैवैते निहताः पूर्वमेव' ( ११ । ३३ ) ।

सम्बन्ध—

दो श्लोकों में भगवान् ने कहा था कि तेरे मारे बिना भी ये  
 शत्रुओं को मारना नहीं रहेंगे । ऐसी स्थितिमें अर्जुनको क्या करना  
 चाहिए ? इसके उत्तरमें भगवान् अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन  
 को निमित्तमात्र बनकर युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

नन्मार्त्त्यमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवंतं निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अर्थ—

दमस्तिये तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त  
 करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो ।  
 ये सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन् ! तू  
 निमित्तमात्र बन जा ।



जिन योद्धाओंको तू मार सकता है, वे सभी तेरे मारे बिना ही मर जायँगे । जिनको तू आगे मारेगा, वे मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं—‘मयैवैते निहताः पूर्वमेव’ ( ११ । ३३ ) ।

सम्बन्ध—

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि तेरे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी योद्धा नहीं रहेंगे । ऐसी स्थितिमें अर्जुनको क्या करना चाहिये ? इसके उत्तरमें भगवान् अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन निमित्तमात्र बनकर युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व  
जित्वा शत्रून्भुङ्क्स्व राज्यं समृद्धम् ।  
मयैवैते निहताः पूर्वमेव  
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अर्थ—

इसलिये तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो । ये सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन् ! तू निमित्तमात्र बन जा ।

व्याख्या—

‘तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व’—हे अर्जुन ! जब तुमने यह देख ही लिया तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी बचेंगे नहीं, तो तू कमर कसकर युद्धके लिये खड़ा हो जा और मुफ्तमें ही यशको प्राप्त कर ले । इसका तात्पर्य है कि यह सब होनहार है,

जो होकर ही रहेगा ओर इसको मैंने तेरेको प्रयत्न दिग्वा भी दिया है । इस वास्ते तू युद्ध करेगा तो तेरेको मुफ्तमें ही यश मिलेगा और लोग भी कहेंगे कि अर्जुनने विजय कर ली ।

‘यशो लभस्व’ कहनेका यह अर्थ नहीं है कि यशकी प्राप्ति होनेपर तुम फल जाओ कि ‘ग्राह । मैने विजय प्राप्त कर ली’, प्रत्युत तू ऐसा समझ कि जैसे ये प्रतिपक्षी मेरे द्वारा मारे हुए ही मरेंगे, ऐसे ही यश भी जो होनेवाला है, वही होगा । अगर तू यशको अपने पुरुषार्थसे प्राप्त मानकर राजी होगा, तो तू फलमें बँध जायगा—‘फले सक्तो निश्च्यते’ ( गीता ५ । १२ ) । तात्पर्य यह हुआ कि लाभ हानि, यश-अपयश सब प्रभुके हाथमें है । इस वास्ते मनुष्य इनके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े; क्योंकि ये तो होनहार हैं ।

‘जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्य राज्य समृद्धम्’—समृद्ध राज्यमें दो बातें होती हैं—( १ ) राज्य निष्कण्टक हो अर्थात् उसमें बाधा देनेवाला कोई भी शत्रु या प्रतिपक्षी न रहे और ( २ ) राज्य धन-धान्यसे सम्पन्न हो अर्थात् प्रजाके पास खूब धन सम्पत्ति हो, हाथी, घोड़े, गाय, जमीन, मकान, जलाशय आदि आवश्यक वस्तुएँ भरपूर हों; प्रजाके खानेके लिये भरपूर अन्न हो । इन दोनों बातोंसे ही राज्यकी समृद्धता, पूर्णता होती है । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि शत्रुओंको जीतकर तुम ऐसे निष्कण्टक और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो । राज्यको भोगनेका अर्थ अनुकूलताका सुख भोगनेमें नहीं है कि साधारण लोग जिसे भोग मानते हैं, उस

जिन योद्धाओंको तू मार सकता है, वे सभी तेरे मारे बिना ही मार जायेंगे । जिनको तू आगे मारेगा, वे मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं—‘मयैवैते निहताः पूर्वमेव’ ( ११ । ३३ ) ।

सम्बन्ध—

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि तेरे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी योद्धा नहीं रहेंगे । ऐसी स्थितिमें अर्जुनको क्या करना चाहिये ? इसके उत्तरमें भगवान् अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन निमित्तमात्र बनकर युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

तन्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व  
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।  
मयैवैते निहताः पूर्वमेव  
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अर्थ—

इसलिये तू युद्धके लिये खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त करके शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो । मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन् ! तू निमित्तमात्र बन जा ।

व्याख्या—

‘तन्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व’—हे अर्जुन ! जब तुमने यह युद्ध ही जितकर तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी बचेंगे नहीं, तो तू कलम कलमकर युद्धके लिये खड़ा हो जा और मुफ्तमें ही यशको प्राप्त कर ले । इसका तात्पर्य है कि यह सब होनहार है,

जो होकर ही रहेगा और इसको मैंने तेरेको प्रयत्न द्रिग्वि भी दिया है । इस वास्ते तू युद्ध करेगा तो तेरेको मुफ्तमें ही यश मिलेगा और लोग भी कहेंगे कि अर्जुनने विजय कर ली !

‘यशो लभस्व’ कहनेका यह अर्थ नहीं है कि यशकी प्राप्ति होनेपर तुम फूल जाओ कि ‘वाह ! मैंने विजय प्राप्त कर ली’, प्रायुन तू ऐसा समझ कि जैसे ये प्रतिपक्षी मेरे द्वारा मारे हुए ही मरेंगे, ऐसे ही यज्ञ भी जो होनेवाला है, वही होगा । अगर तू यशको अपने पुरुषार्थसे प्राप्त मानकर राजी होगा, तो तू फलमें बँध जायगा—‘फले मक्तो निवर्ध्यते’ ( गीता ५ । १२ ) । तात्पर्य यह हुआ कि लाभ-हानि, यज्ञ-अयज्ञ सब प्रभुके हाथमें है । इस वास्ते मनुष्य इनके साथ अन्ना सम्बन्ध न जोड़े; क्योंकि ये तो होनहार हैं ।

‘जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं सनृद्धम्’—समृद्ध राज्यमें दो बातें होती हैं—( १ ) राज्य निष्कण्टक हो अर्थात् उसमें बाधा देनेवाला कोई भी शत्रु या प्रतिपक्षी न रहे और ( २ ) राज्य धन-धान्यसे सम्पन्न हो अर्थात् प्रजाके पास तूव धन-सम्पत्ति हो; हाथी, घोड़े, गाय, जमीन, मकान, जलाशय आदि आवश्यक वस्तुएँ भरपूर हों; प्रजाके खानेके लिये भरपूर अन्न हो । इन दोनों बातोंमें ही राज्यकी समृद्धता, पूर्णता होती है । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि शत्रुओंको जीतकर तुम ऐसे निष्कण्टक और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको मोगो ।

यहाँ राज्यको भोगनेका अर्थ अनुकूलताका सुगम भोगनेमें नहीं है, प्रयुक्त यह अर्थ है कि साधारण लोग जिसे भोग मानते हैं, उस राज्यको भी तुम अनायास प्राप्त कर लो ।



‘मयैवैते निहताः पूर्वमेव’—तू मुफ्तमें ही यश और राज्यको कैसे प्राप्त कर लेगा, इसका हेतु बताते हैं कि यहाँ जितने भी आये हुए हैं, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् कालरूप मेरे द्वारा ये पहलेसे ही मारे जा चुके हैं ।

‘निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्’—बायें हाथसे बाण चलानेके कारण अर्थात् दायें और बायें—दोनों हाथोंसे बाण चलानेके कारण अर्जुनका नाम ‘सव्यसाची’ था\* । इस नामसे सम्बोधित करके भगवान् अर्जुनसे यह कहते हैं कि तुम दोनों हाथोंसे बाण चलाओ अर्थात् युद्धमें अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर बनना है निमित्तमात्र ।

मित्तमात्र बननेका तात्पर्य अपने बल, बुद्धि, पराक्रम आदिको काम लगानेमें नहीं है, प्रत्युत इनको सावधानीपूर्वक पूरा-का-पूरा लगाना है । परन्तु मैंने मार दिया, मैंने विजय प्राप्त कर ली—यह अभिमान नहीं करना है; क्योंकि ये सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं । इस वास्ते तेरेको केवल निमित्तमात्र बनना है, कोई नया काम नहीं करना है ।

निमित्तमात्र बनकर कार्य करनेमें अपनी ओरसे किसी भी अंशमें कोई कमी नहीं रहनी चाहिये, प्रत्युत पूरी-की-पूरी शक्ति लगाकर सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिये । कार्यकी सिद्धिमें अपने अभिमानका किञ्चिन्मात्र भी अंश नहीं रखना चाहिये । जैसे,

\* उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकारणौ ।

तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥

( महा० विराट० ४४ । १९ )



जब साधक अपना बल मानते हुए साधन करता है तो अपना बल माननेके कारण उसको बार-बार विफलता का अनुभव होता रहता है और तत्त्वकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर साधक अपने बलका किञ्चिन्मात्र भी अभिमान न करे तो सिद्धि तत्काल हो जाती है। कारण कि परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं ही, केवल अपने पुरुषार्थके अभिमानके कारण ही उनका अनुभव नहीं हो रहा था। इस पुरुषार्थके अभिमानको दूर करनेमें ही 'निमित्तमात्रं भव' पदोंका तात्पर्य है।

कर्मोंमें जो अपने करनेका अभिमान है कि 'मैं करता हूँ तो होता है, अगर मैं नहीं करूँ तो नहीं होगा', यह केवल अज्ञताके कारण ही अपनेमें आरोपित कर रखा है। अगर मनुष्य अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाय, तो उसका उद्धार स्वतःसिद्ध है। कारण कि जो होनेवाला है, वह तो होगा ही, उसको कोई अपनी शक्तिसे रोक नहीं सकता; और जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा, उसको कोई अपने बल-बुद्धिसे कर नहीं सकता। इस वास्ते सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्तव्य-कर्मोंका पालन किया जाय तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। वन्दन, नरकोंकी प्राप्ति, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति—ये सभी कृतिसाध्य हैं और मुक्ति, कल्याण, भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम आदि सभी स्वतःसिद्ध हैं।

श्लोक—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च  
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।  
मया हतास्त्र्यं जहि मा व्यथिष्टा  
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अर्थ—

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य सभी मेरे द्वारा मारे हुए शूरोको तू मार । तू क्या मन कर, युद्ध कर । युद्धमें तू वैशिको जीतेगा ।

व्याख्या—

‘द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् मया हतास्त्र्यं जहि’--अर्जुनकी दृष्टिमें गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य जितने भी प्रतिपक्षके नामी शूरीर हैं, जिनपर विजय करना बड़ा कठिन काम है\*, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् वे सब कालरूप मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं । इस वास्ते हे अर्जुन ! मेरे द्वारा मारे हुए शूरोको तू मार दे ।

भगवान्के द्वारा पिछले श्लोकमें ‘मयैवैते निहताः पूर्वमेव’ और यहाँ ‘मया हतास्त्र्यं जहि’ कहनेका तात्पर्य यह कि तू इनपर

\* भीष्म, द्रोण और कर्ण अपनी शूरीरताके ससारमें प्रसिद्ध थे, इस वास्ते इनको जीतना कठिनता थी । जयद्रथ तो ऐसा कोई नामी शूरीर या नहीं, पर उनको एक वरदान था कि ‘तुम्हारा सिर कोई पृथ्वीपर गिरा देगा तो उस ( सिर गिरानेवाले ) के सिरके सौ टुकड़े जायगे । इस वरदानके कारण जयद्रथको मारनेमें कठिनता’

विजय कर, पर विजयमें अपना अभिमान मन रख कि मैंने विजय की है; क्योंकि ये सब-के-सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं ।

‘मा व्यथिष्ठा युध्यस्व’—अर्जुन पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यको मारनेमें पाप समझते थे, यही अर्जुनके मनमें व्यथा थी । इस वास्ते भगवान् कह रहे हैं कि वह व्यथा भी तुम मत करो अर्थात् भीष्म, और द्रोण ( आदि ) को मारनेसे हिंसा आदि दोषोंका विचार करनेकी तेरेको किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है । तुम अपने क्षात्रधर्मका अनुष्ठान करो अर्थात् युद्ध करो । इसका त्याग मत करो ।

‘जेनासि रणे सपत्नान्’—इस युद्धमें तू वैरियोंको जीतेगा । ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि पहले ( गीता २ । ६ में ) अर्जुनने कहा था कि हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे—इसका हमको पता नहीं । इस प्रकार अर्जुनके मनमें सन्देह था । यहाँ ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप देखनेकी आज्ञा दी, तो उसमें भगवान्ने कहा कि तू और भी जो कुछ देखना चाहे, वह देख ले ( ११ । ७ ) अर्थात् किसकी जय होगी और किसकी पराजय होगी—यह भी तू देख ले । फिर भगवान्ने विराटरूपके अर्न्तत भीष्म, द्रोण और कर्णके नाशकी बात दिखा दी और इस श्लोकमें वह बात स्पष्टरूपसे कह दी कि युद्धमें तेरी विजय होगी ।

### विशेष बात

साधकको अपने साधनमें वायकरूपसे नाशवान् पदार्थोंका, व्यक्तियोंका जो आकर्षण दीखता है, उससे वह घबरा जाता है कि

मेरा उद्योग कुछ भी काम नहीं कर रहा है; अतः यह आर्कषण कैसे मिटे ! भगवान् 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' और 'मया हतास्त्वजहि' पदोंसे टाढस ब्रँचाते हुए मानो यह आघासन देते हैं कि तुम्हारेको अपने साधनमें जो रस्तुओ आदि का आर्कषण दिखायी देता है, और वृत्तियाँ खराब होनी हुई दीवनी हैं, ये सब-के-सब विघ्न नाशगान् हैं और मेरे द्वारा मारे हुए हैं । इस वास्ते साधन इनको महत्त्व न दे ।

'दुर्गुण-दुराचार दूर नहीं हो रहे हैं, क्या करूँ !'—ऐसी चिन्ता होनेमें तो साधक का अभिमान ही कारण है और 'धे दूर होने चाहिये और जल्दी होने चाहिये'—इसमें भगवान् के विश्वास-की, भरोसेकी, आश्रयकी कमी है । दुर्गुण-दुराचार अच्छे नहीं लगते, सुहाते नहीं, इसमें दोष नहीं है । दोष है चिन्ता करनेमें । इस वास्ते साधकको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

'मेरे द्वारा मारे हुएको तू मार'—इस कथनसे यह शक्ता होनी है कि कालरूप भगवान् के द्वारा सब-के-सब मारे हुए हैं तो ससारमें कोई किसीको मारता है तो वह भगवान् के द्वारा मारे हुएको ही मारता है । अतः मारनेवालेको पाप नहीं लगना चाहिये । इसका समाधान यह है कि किसीको मारने का या दुःख देने का अधिकार मनुष्यको नहीं है । उसको तो सबकी सेवा करने का, सबको सुख पहुँचाने का ही अधिकार है । अगर मारने का अधिकार मनुष्यको होता तो विधि-निषेध अर्थात् शुभ काम करो, अशुभ मत करो—ऐसा शास्त्रों का, गुरुजनों, सन्तों का कहना ही व्यर्थ हो जायगा ।

वह विधि निपेय किसपर लागू होगा ? इस वास्ते मनुष्य किसीको मारता है या दुःख देता है तो उसको पाप लगेगा ही; क्योंकि यह उसकी राग-द्वेषपूर्वक अनधिकार चेष्टा है। परन्तु क्षत्रियके लिये शास्त्रविहित युद्ध प्राप्त हो जाय, तो स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके कर्तव्य-पालन करनेसे पाप नहीं लगता; क्योंकि यह क्षत्रियका स्वधर्म है।

अब इसपर विचार करना है कि अगर भगवान् ने जो पहलेसे ही रच रखा है, उसीको मनुष्य करेगा, तो फिर इस मनुष्य-जन्म-की विशेषता ही क्या रही ? मनुष्यमें और पशु-पक्षी आदिमें अन्तर ही क्या रहा ? इसका समाधान यह है कि मनुष्यशरीरमें दो बातें हैं—पुराने कर्मोंका फलभोग और नया पुरुषार्थ। दूसरी योनियोंमें केवल पुराने कर्मोंका फलभोग है अर्थात् कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देवता, ब्रह्मलोकतककी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इस वास्ते उनके लिये 'ऐसा करो और ऐसा मत करो'—यह विधान भी नहीं है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि जो कुछ करते हैं, उनका वह कर्म भी फलभोगमें है। कारण कि उनके द्वारा किया जानेवाला कर्म उनके प्रारब्धके अनुसार पहलेसे ही रचा हुआ है। उनके जीवनमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका जो कुछ भोग होता है, वह भोग भी फल-भोगमें ही है। परन्तु मनुष्यशरीर तो केवल नये पुरुषार्थके लिये ही मिला है, जिससे यह अपना उद्धार कर ले।

इस मनुष्यशरीरमें दो विभाग हैं—एक तो इसके सामने पुराने कर्मोंके फलरूपमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है; और दूसरा

यह नया पुरुषार्थ ( नये कर्म ) करता है । नये कर्मोंके अनुसार ही इसके भविष्यका निर्माण होता है । इस वास्ते शास्त्र, सन्त-महापुरुषोंका विधि-निर्देश, राज्य आदिका शासन केवल मनुष्योंके लिये ही होता है; क्योंकि मनुष्यमें पुरुषार्थकी प्रधानता है, नये कर्मोंको करनेकी स्वतन्त्रता है । परंतु पिछले कर्मोंके फलस्वरूप मिलनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको बदलनेमें यह परतन्त्र है । तात्पर्य है कि मनुष्य करनेमें स्वतन्त्र और फल-प्राप्तिमें परतन्त्र है । परन्तु अनुकूल-प्रतिकूलरूपसे प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके मनुष्य उसको अपने उद्धारकी साधन-सामग्री बना सकता है । यह मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये ही मिला है । इस वास्ते इसमें नया पुरुषार्थ भी उद्धारके लिये है और पुराने कर्मोंके फलरूपसे प्राप्त परिस्थिति भी उद्धारके लिये ही है ।

इसमें एक विशेष समझनेकी बात है कि इस मनुष्य-जीवनमें प्रारम्भके अनुसार जो भी शुभ या अशुभ परिस्थिति आता है, उस परिस्थितिको मनुष्य सुखदायी या दुःखदायी तो मान सकता है, पर वास्तवमें देखा जाय तो उस परिस्थितिसे सुखी या दुःखी होना कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत मूर्खताका फल है । कारण कि परिस्थिति तो बाहरसे बनती है, और सुखी-दुःखी होता है यह स्वयं । उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य करके ही यह सुख-दुःखका भोक्ता बनता है । अगर मनुष्य उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य न करके उसका सदुपयोग करे, तो वही परिस्थिति उद्धार करनेके लिये साधन-सामग्री बन जायगी । सुखदायी परिस्थि



सद्गुण योग है—दूसरोंकी सेवा करना; और दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखभोगकी इच्छाका त्याग करना ।

दुःखदायी परिस्थिति आनेपर मनुष्यको कभी भी घबराना नहीं चाहिये, प्रत्युत यह विचार करना चाहिये कि हमने पहले सुखभोगकी इच्छासे ही पाप किये थे, और वे ही पाप दुःखदायी परिस्थितिके रूपमें आकर नष्ट हो रहे हैं । इसमें एक फायदा यह है कि उन पापोंका प्रायश्चित्त हो रहा है और हम शुद्ध हो रहे हैं । दूसरा फायदा यह है कि हमें इस बातकी चेतावनी मिलती है कि अब हम सुखभोगके लिये पाप करेंगे तो आगे भी इसी प्रकार दुःखदायी परिस्थिति आयेगी । इस वास्ते सुखभोगकी इच्छासे अब कोई काम करना ही नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितके लिये ही काम करना है ।

तात्पर्य यह हुआ कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियोंके लिये पुराने कर्मोंका फल और नया कर्म—ये दोनों ही भोग-रूपमें हैं, और मनुष्यके लिये पुराने कर्मोंका फल और नया कर्म ( पुरुषार्थ )—ये दोनों ही उद्धारके साधन हैं ।

सम्बन्ध—

विराटरूप भगवान्के अत्यन्त उग्ररूपको देखकर अर्जुनने इक्कीसवें श्लोकमें पूछा कि आप कौन हैं और यहाँ क्या करने आये हैं ? वत्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने उसका उत्तर दिया कि मैं बड़ा हुआ काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ । फिर तैंतीसवें-चौतीसवें श्लोकोंमें भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दिया कि मेरे द्वारा

मारे हुएको ही तू मार, दे, तेरी जीत होगी । इसके बाद अर्जुनने क्या किया—इसको संजय अगले श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

संजय उवाच

पतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य  
कृताञ्जलिवेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं  
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥  
अर्थ—

संजय बोले—भगवान् केशवसा यद् वचनं सुनकर कम्पित हुए किरीटी अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और अत्यन्त भयभीत होकर फिर प्रणाम करके गद्गद वाणीसे भगवान् कृष्णसे बोले ।

व्याख्या—

‘पतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिवेपमानः किरीटी’—अर्जुन तो पहलेसे भयभीत थे ही, फिर भगवान् ने ‘मैं काल हूँ, सबको खा जाऊँगा’—ऐसा कहकर मानो डरे हुएको और डराया । तात्पर्य है कि ‘कालोसिड’—यहाँसे लेकर ‘मया हतांस्त्वं जहि’—यहाँतक भगवान् ने नाश-ही-नाशकी बात बतायी । इसे सुनकर अर्जुन डरके मारे काँपने लगे और हाथ जोड़कर बार-बार नमस्कार करने लगे ।

अर्जुनने इन्द्रकी सहायताके लिये जब काल, खड्ग आदि राक्षसों-को मारा था, तो इन्द्रने प्रसन्न होकर अर्जुनको एक सूर्यके समान प्रकाशवाला दिव्य ‘किरीट’ ( मुकुट ) दिया था । इसीसे अर्जुनका

नाम 'किरीटी' पड़ गया \* । यहाँ 'किरीटी' कहनेका तात्पर्य है कि जिन्होंने बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर इन्द्रकी सहायता की थी, वे अर्जुन भी भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखकर कम्पित हो रहे हैं ।

**'नमस्कृत्वा भूय** ।। कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य'— काल सबका भक्षण करता है, किसीको भी छोड़ता नहीं । कारण कि यह भगवान्‌की संहारशक्ति है, जो हरदम संहार करती ही रहती है । इधर अर्जुनने जब भगवान्‌के अत्युग्र विराट्‌रूपको देखा तो उनको लगा कि भगवान् कालके भी काल—महाकाल हैं । उनके सिवाय दूसरा कोई भी कालसे बचानेवाला नहीं है । इस वास्ते अर्जुन भयभीत होकर भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करते हैं ।

**'भूयः'** कहनेका तात्पर्य है कि पहले पंद्रहवेंसे इकतीसवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार किया, अब फिर भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार करते हैं ।

हर्षसे भी वाणी गद्गद होती है और भयसे भी । यहाँ भयका विषय है । अगर अर्जुन बहुत ज्यादा भयभीत होने तो वे बोल ही न सकते । परन्तु अर्जुन गद्गद वाणीसे बोलते हैं । इससे सिद्ध होता है कि वे इतने भयभीत नहीं हैं ।

सम्वन्ध—

अब अगले श्लोकसे अर्जुन भगवान्‌को स्तुति करना आरम्भ करते हैं ।

\* पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।  
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥

( महा० विराट० ४४ । १७ )

श्लोक—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या  
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।  
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति  
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसद्माः ॥ ३६ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे अन्तर्धामी भगवन् ! आपके नाम, गुण, लीला-का कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग- ( प्रेम- ) को प्राप्त हो रहा है । आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोक दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं । यह सब होना उचित ही है ।

व्याख्या—

[ संसारमें यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति अत्यन्त भयभीत हो जाता है, उससे बोला नहीं जाता । अर्जुन भगवान्‌का अत्युग्र रूप देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये थे । फिर उन्होंने इस (छत्तीसवें) श्लोकसे लेकर छियालीसवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति कैसे की ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के अत्यन्त उग्र ( भयानक ) विश्वरूपको देखकर भयभीत हो रहे थे, तथापि वे भयभीत होनेके साथ-साथ हर्षित भी हो रहे थे, जैसा कि अर्जुनने आगे कहा है — ‘अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे’ ( ११ । ४५ ) । इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जिससे कि वे भगवान्‌की स्तुति भी न कर सकें । ]

‘हृषीकेश’—इन्द्रियोंका नाम ‘हृषीक’ है, और उनके ‘ईश’ अर्थात् मालिक भगवान् हैं। इस वास्ते यहाँ इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप सबके हृदयमें विराजमान रहकर इन्द्रियों, अन्तःकरण आदिको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले हैं।

‘तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च’—संसारसे विमुख होकर आपको प्रसन्न करनेके लिये आपके नामोंका, गुणोंका कीर्तन करते हैं, आपकी लीलाके पद गाते हैं, आपके चरित्रोंका कथन और श्रवण करते हैं, तो इससे सम्पूर्ण जगत् हर्षित होता है। तात्पर्य यह है कि संसारकी तरफ चलनेसे तो सबको जलन होती है, परस्पर राग-द्वेष पैदा होते हैं, पर जो आपके सम्मुख होकर आपका भजन-कीर्तन करते हैं, उनके द्वारा मात्र जीवोंको शान्ति मिलती है, मात्र जीव प्रसन्न हो जाते हैं। उन जीवोंको पता लगे चाहे न लगे, पर ऐसा होता है।

जैसे भगवान् अवतार लेते हैं तो सम्पूर्ण स्थावर-जड़ग, जड़-चेतन जगत् हर्षित हो जाता है अर्थात् घृक्ष, लता आदि स्थावर, देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, किन्नर, गन्धर्व, पशु, पक्षी आदि जड़ग, नदी, सरोवर आदि जड़—सब-के-सब प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे ही भगवान्के नाम, लीला, गुण आदिके कीर्तनका समीप असर पड़ता है और सभी हर्षित होते हैं।

‘रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति’—जितने राक्षस हैं; भूत, प्रेत, पिशाच हैं, वे सब-के-सब आपके नामों और गुणोंका कीर्तन





क्या था ? 'अज्ञानता महिमानं तवेदम्' \* —उसका कारण यह था कि मैंने आपकी ऐसी महिमाको और स्वरूपको नहीं जाना कि आप ऐसे विलक्षण हैं । आपके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड पिराजमान हैं—ऐसा मैं पहले नहीं जानता था । आपके प्रभावकी तरफ मेरी दृष्टि ही नहीं गयी । मैंने कभी सोचा-समझा ही नहीं कि आप कौन हैं और कैसे हैं ।

यद्यपि अर्जुन भगवान्के स्वरूपको, महिमाको, प्रभावको पहले भी जानते थे, तभी तो उन्होंने एक अशौहिणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्को स्वीकार किया था; तथापि भगवान्के शरीरके किसी एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड यथावकाश स्थित हैं—ऐसे प्रभावको, स्वरूपको, महिमाको अर्जुनने पहले नहीं जाना । जब भगवान्ने कृपा करके विश्वरूप दिखाया, तो उसको देखकर ही अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के प्रभावकी तरफ गयी और वे भगवान्को कुछ जानने लगे । उनका यह विचित्र भाव हो गया कि 'कहाँ तो मैं और कहाँ ये देवोंके देव !' परन्तु मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे हठ-पूर्वक, बिना सोचे-समझे, जो मनमें आया सो कह दिया— 'मया प्रमादात्प्रणयेन वापि' बोलनेमें मैंने बिल्कुल ही सावधानी नहीं रखी ।

---

\* 'महिमानं तत्र इदम्'—इसमें आया 'इदम्' पद 'महिमानम्'का विशेषण नहीं है; क्योंकि 'महिमानम्' पद पुल्लिङ्गमें आया है और 'इदम्' पद नपुंसकलिङ्गमें आया है । इस वास्ते यहाँ 'इदम्' का अर्थ 'स्यम्प' लिया गया है । उस दृष्टिमें 'महिमानं तत्र इदम्' का अर्थ हुआ—आपकी महिमा और स्वरूप ।



वस्तुमें भगवान्की महिमाको सर्वथा कोई जान ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्की महिमा अनन्त है। अगर वह सर्वथा जाननेमें आ जायगी तो उनकी अनन्तता नहीं रहेगी, वह सीमित हो जायगी। जब भगवान्की सामर्थ्यसे उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंका भी अन्त नहीं है, तो भगवान् और उनकी महिमाका अन्त कैसे आ सकता है? अर्थात् आ ही नहीं सकता।

‘यत्रावहाव्यार्थमन्मृतांऽग्नि विहारशय्यासनभोजनेषु’—  
 मैंने आपको बगवतीका साक्षात् मित्र समझकर हँसी-दिल्ली करते समय, रातमें चढ़ते-फिरते समय, शय्यापर सोने-जागते समय, आसन-पर उठने-बैठने समय, भोजन करते समय जो कुछ अपमानके शब्द कहे, आपका अनकार किया अथवा हे अव्युत ! आप अकंठे थे, उस समय या उन मन्वाओं, कुटुम्बीजनों, सम्य व्यक्तियों आदिके सामने मैंने आपका जो कुछ निरकार किया है, वह सब मैं आपसे क्षमा कराता हूँ—‘एकोऽथचाप्यच्युत नन्ममक्षं तन्क्षामये न्वामहमप्रमेयम्’।

अर्जुन और भगवान्की मित्रताका ऐसा वर्णन आता है कि जैसे दो मित्र आपसमें खड़े हैं, ऐसे ही अर्जुन भगवान्के साथ खड़े थे। कभी स्तब्ध करते तो अर्जुन हाथोंसे भगवान्के ऊपर चढ़ सकते और भगवान् अर्जुनके ऊपर। कभी अर्जुन भगवान्के पीछे दौड़ते तो कभी भगवान् अर्जुनके पीछे दौड़ते। कभी दोनों आपसमें चले-पड़े। कभी दोनों परस्पर अपनी-अपनी विशेष कल्पों दिखाने। कभी भगवान् सो जाते तो अर्जुन कहते—‘तुम इतने

फैलकर सो गये हो, दूसरा कोई सोयेगा कि नहीं ? तुम अकेले ही हो क्या ?' कभी भगवान् आसनपर बैठ जाते तो अर्जुन कहते— 'आसनपर तुम अकेले ही बैठोगे क्या ? और किसीको बैठने दोगे कि नहीं ? अकेले ही आविपत्य जमा लिया ! जरा एक तरफ तो खिसक जाओ ।' इस प्रकार अर्जुन भगवान्के साथ बहुत ही घनिष्ठताका व्यवहार करते थे\* । अब अर्जुन उन अपराधोको याद करके कहते हैं कि हे भगवन् ! मैंने न जाने ऐसे कितने-कितने अपराध किये हैं । मेरेको तो सब अपराध याद भी नहीं हैं । यद्यपि आपने मेरे अपराधोकी तरफ दयाल नहीं किया, तथापि मेरे द्वारा आपके बहुत-से अपराध हुए हैं, इस धारते में अप्रमेयस्वरूप आपसे सब अपराध क्षमा करवाता हूँ । भगवान्को 'अप्रमेय' कहनेका तात्पर्य हे कि दिव्यदृष्टि होनेपर भी आप दिव्यदृष्टिके अन्तर्गत नहीं आते हैं ।

ॐ शय्यासनाटनविकथनभोजनादि-

ध्वैक्याद् वयस्य स्मृतानिति विप्रलब्धः ।

मन्त्रु सन्नेव पितृपत्तनयस्य सर्वे

सेहे महान् महितया कुमतेरप मे ॥

( श्रीमद्भा० १ । १५ । १९ )

अर्जुन कहते हैं—'भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, यातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी-कभी हे सन्ने ! तुम तो बड़े सच बोलनेवाले हो ।' ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था । परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त अपराधोंको जैसे ही सहा करते थे, जैसे सखा अपने गणायके अपराधको या पिता अपने पुत्रके अपराधको सहा करता है ।

सम्बन्ध—

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्की महत्ता और प्रभावका वर्णन करके पुनः अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—

पितासि लोकस्य चराचरस्य  
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।  
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो  
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव

॥ ४३ ॥

अर्थ—

आप ही इस चराचर संसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं । हे अनन्त प्रभावशाली भगवन् ! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है ?

व्याख्या—

‘पितासि लोकस्य चराचरस्य’—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जितने जंगम प्राणी हैं और वृक्ष, लता आदि जितने स्थावर प्राणी हैं, उन सबको उत्पन्न करनेवाले और उनका पालन करनेवाले पिता भी आप हैं, उनके पूजनीय भी आप हैं तथा उनको शिक्षा देनेवाले महान् गुरु भी आप ही हैं—‘त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्’ ।

‘गुरुर्गरीयान्’ का तात्पर्य है कि प्राणिमात्रको व्यवहार और परमार्थमें—जहाँ-कहाँ भी गुरुजनोंसे शिक्षा मिलती है, उन शिक्षा

देनेवाले गुरुओंके भी महान् गुरु आप ही हैं अर्थात् मात्र शिक्षाका, मात्र ज्ञानका उद्गम-स्थान आप ही हैं ।

‘न त्वत्समोऽस्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिम-  
प्रभाव’—इस त्रिलोकीमें जय आपके समान भी कोई नहीं है, कोई  
होगा नहीं और कोई हो सकता ही नहीं, तो आपसे अधिक प्रिलक्षण  
कोई हो ही कैसे सकता है ? इस वास्ते आपका प्रभाव अनुलनीय  
है, उसकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती ।

श्लोक—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिवाय कायं  
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।  
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः  
प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—

इसलिये शरीरसे लम्बा पड़कर स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको  
म प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ । जैसे पिता पुत्रके, मित्र  
मित्रके ओर पति पत्नीके अपमानको सह लेता है, ऐसे ही हे देव !  
आप मेरे द्वारा किया अपमान सहनेमें समर्थ हैं ।

व्याख्या -

‘तस्मात् प्रणम्य प्रणिवाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्’  
—जय आपके समान भी कोई नहीं है, तो आपसे बढ़कर कोई  
हो ही कैसे सकता है ? ऐसे आप अनन्त ब्रह्माण्डके ईश्वर हैं ।  
इस वास्ते आपके द्वारा स्तुति करनेयोग्य आप ही हैं । आपके  
गुण, प्रभाव, महत्त्व आदि अनन्त हैं, अतः ऋषि, महर्षि, देवता,

महापुरुष आपकी नित्य-निरन्तर स्तुति करते रहें तो भी पार नहीं पा सकते। ऐसे स्तुति करनेयोग्य आपकी मैं क्या स्तुति कर सकता हूँ ? मेरेमें आपकी स्तुति करनेका बल नहीं है, सामर्थ्य नहीं है। इस वास्ते मैं तो केवल आपके चरणोंमें लम्बा पड़कर दण्डवत्-प्रणाम ही कर सकता हूँ और इसीसे आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ।

‘पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्’  
 —किसीका अपमान होता है तो उसमें मुख्य तीन कारण होते हैं—( १ ) प्रमाद-(असावधानी-) से ( २ ) हँसी-दिल्लगी, विनोदमें ख्याल न रहनेसे और ( ३ ) अपनेपनकी घनिष्टता होनेपर अपने साथ रहनेवालेका महत्त्व न जाननेसे। जैसे, गोदीमें बैठा हुआ छोटा बच्चा अज्ञानवश पिताकी दाढ़ी-मूँछ खींचता है, मुँहपर थपड़ चगाता है, कभी कहीं लत मार देता है तो बच्चेकी ऐसी चेष्टा देखकर पिता राजी ही होता है, प्रसन्न ही होता है। वह अपने-में यह भाव लता ही नहीं कि पुत्र मेरा अपमान कर रहा है। मित्र मित्रके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते आदि समय चाहे जैसा व्यवहार करता है, चाहे जैसा बोल देता है; जैसे—‘तुम बड़े सत्य बोलते हो जी ! तुम तो बड़े सत्यप्रतिज्ञ हो ! अब तो तुम बड़े आदमी हो गये हो ! तुम तो कबू अभिमान करने लग गये हो ! आज मानो तुम राजा ही बन गये हो ! आदि, पर उसका मित्र उसकी इन बातोंका ख्याल नहीं करता। वह तो यही समझता है कि हम बराबरीके मित्र हैं, ऐसी हँसी-दिल्लगी तो होती ही रहती है।

पत्नीके द्वारा आपसके प्रेमके कारण उठने-बैठने, बातचीत करने आदिमें पतिकी जो कुछ अपहेलना होती है, उसे पति सह लेता है। जैसे, पति नीचे बैठा है तो वह ऊँचे आसनपर बैठ जाती है, कभी किसी बातको लेकर अपहेलना भी कर देती है, पर पति उसे स्वाभाविक ही सह लेता है। अर्जुन कहते हैं कि जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही हे भगवन् ! आप मेरे अपमानको सहनेमें समर्थ हैं अर्थात् इसके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

इकतालीसवें-बयालीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने तीन बातें कही थीं— 'प्रमादात्' ( प्रमादसे ), 'अवहासार्थम्' ( हँसी-दिल्लीसे ) और 'प्रणयेन' ( प्रेमसे )। उन्हीं तीन बातोंका संकेत अर्जुनने यहाँ तीन दृष्टान्त देकर किया है अर्थात् प्रमादके लिये पिता-पुत्रका, हँसी-दिल्लीके लिये मित्र-मित्रका और प्रेमके लिये पति-पत्नीका दृष्टान्त दिया है।

### ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन इस प्रकार हुआ है— देवरूपका वर्णन होनेसे 'शान्तरस' ( ११। १५-१८ ); स्वर्गसे पृथ्वीतक और दसो दिशाओंमें व्याप्त मिराडूरूपका वर्णन होनेसे 'अद्भुतरस' ( ११। २० ); अपनी जिह्वासे सत्रका प्रसन कर रहे हैं और सत्रका मंहार करनेके लिये कालरूपसे प्रवृत्त हुए हैं—ऐसा रूप धारण किये होनेसे 'रौद्ररस' ( ११। ३०, ३२ ); भयंकर विकराल मुख और दाढ़ीमाला रूप होनेसे 'वीभ्रसरस' ( ११। २३-२५ ); तुम युद्धके लिये लडे हो जाओ—इस रूपमें 'वीररस'

( ११ । ३३ ) ; लम्बे पड़कर दण्डवत्-प्रणाम आदि करनेसे 'हास्यरस' ( ११ । ४४ का पूर्वार्ध ) ; मुख्य-मुख्य योद्धाओंको तथा अन्य राजालोगोंको भगवान्के मुखमें जाते हुए देखनेसे 'करुणरस' ( ११ । २८-२९ ) ; दृष्टान्तरूपसे मित्र मित्रके, पिता पुत्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेना है—इस रूपमें क्रमशः 'हास्यरस', 'वात्सल्यरस' और 'माधुर्यरस' का वर्णन हुआ है ( ११ । ४४ का उत्तरार्ध ) और हैमी आदिकी स्मृतिरूपसे 'हास्यरस' का वर्णन हुआ है ( ११ । ४२ का पूर्वार्ध ) ।

सम्बन्ध—

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन चतुर्भुजरूप दिग्दानेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—

अदृष्टपूर्वे हृदिनाऽस्मि दृष्ट्वा  
 भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।  
 नदेव मे दर्शय देवरूपं  
 प्रसीद देवेज जगन्निवाग्न ॥ ४५ ॥

अर्थ

मैंने ऐसा रूप पहले कभी नहीं देखा । इस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और ( माथ-ही-माथ ) भयसे मेरा मन व्यथित भी हो रहा है । उन वाग्ने अप मुझे अपने उसी देवरूपको (सौम्य विष्णुरूपको) दिग्वाइये । हे देवेज ! हे जगन्निवाग्न ! आप प्रसन्न होइये ।

व्याख्या—

[ जैसे तिराट्-रूप दिखानेके लिये मेने भगवान्से प्रार्थना की तो भगवान्ने मुझे तिराट्-रूप दिवा दिया, ऐसे ही देव-रूप दिखानेके लिये प्रार्थना करनेपर भगवान् देव-रूप दिखायेंगे ही—ऐसी आशा होनेसे अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करते हैं । ]

‘अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयंन च प्रव्यथितं मनो मे’—  
 आपका ऐसा अन्धौकिक आश्चर्यमय विशालरूप मेने पहले कभी नहीं देखा । आपका ऐसा भी रूप है —ऐसी मेरे मनमें सम्भावना भी नहीं थी । ऐसा रूप देखनेकी मेरेमें कोई योग्यता नहीं थी । यह तो केवल अपने अपनी तकमे ही कृपा करके दिखाया है । इससे मैं अपने-आपको बड़ा तामा-यशाली मानकर हर्षित हो रहा हूँ, आपकी कृपाको देखकर गद्गद हो रहा हूँ । परन्तु साथ-ही-साथ अपने स्वरूपकी उग्रताका कारण मेरा मन आपके कारण अत्यन्त व्यथित हो रहा है, व्याकुल हो रहा है, परा रहा है ।

‘तदेव मे दर्शय देवरूपम्’ ‘तत् (यह) शब्द परेश्वरजी हैं, अतः ‘तदेव’ (तत् एव) कहनेसे ऐसा माहृम देना है कि अर्जुनने देव-रूप ( त्रिपुण्ड्र-रूप ) पहचानना उग्रा है, जो अभी तक नहीं है । विश्वरूप देखनेपर बड़ा अतुनकी पहले ही पड़ी है उन्होंने कमलासनपर विराजमान ब्रह्माजीको देखा—‘एतन्मि देवांस्तत्र देव देहे’ ( ११ । १५ ) । ब्रह्माण्मीशं कमला-  
 .रसे सिद्ध होता है कि यह कमल



शेषशायी चतुर्भुज विष्णुरूपको भी अर्जुनने देखा है। आगे सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा है कि मैं आपको किरीट, गदा, चक्र ( और 'च' पदसे शङ्ख और पद्म ) धारण किये हुए देख रहा हूँ—'किरीटिनम् गदिनं चक्रिणं च'। इन दोनों बातोंसे यही सिद्ध होता है कि अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत भगवान्के जिस विष्णुरूपको देखा था, उसीके लिये अर्जुन यहाँ 'वही देवरूप मेरेको दिखाइये' ऐसा कह रहे हैं।

'देवरूपम्' कहनेका तात्पर्य है कि मैंने विराटरूपमें आपके विष्णुरूपको भी देखा था, पर अब आप मेरेको केवल विष्णुरूप ही दिखाइये। दूसरी बात, पंद्रहवें श्लोकमें भी अर्जुनने भगवान्के लिये 'देव' कहा है—'पश्यामि देवांस्तव देव देहे' और यहाँ भी देवरूप दिखानेके लिये कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि विराटरूप भी नहीं और मनुष्यरूप भी नहीं, केवल देवरूप दिखाइये। अगले (छियालीसवें) श्लोकमें भी 'तनैव' पदसे विराटरूप और मनुष्यरूपका निषेध करके चतुर्भुज विष्णुरूप वन जानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

'प्रसीद् देवेश जगन्निवास'—यहाँ 'जगन्निवास' सम्बोधन विश्वरूपका और 'देवेश' सम्बोधन चतुर्भुजरूपका संकेत कर रहा है। अर्जुन ये दो सम्बोधन देकर मानो यह कह रहे हैं कि सम्पूर्ण संसारका निवास आपमें है—ऐसा विश्वरूप तो मैंने देख लिया है और देख ही रहा हूँ। अब आप 'देवेश'—देवताओंके मालिक विष्णुरूपसे हो जाइये।

श्लोक—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त

मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

तेनैव\* रूपेण चतुर्भुजेन

सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अर्थ—

मैं आपको वैसे ही किरीटधारी, गदाधारी और हाथमें चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ । इस आस्ते हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे हो जाइये ।

\* इदमस्तु स्यात्सनिवृष्टे समीपतरवति चेतदो रूपम् ।

अदसस्तु निप्रवृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥

—इस उक्तिसे अनुसार 'इदम्' शब्द समीपका, 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपका, 'अदस' शब्द दूरता और 'तत्' शब्द परोक्षता वाचक है । विश्वरूपमें इन सबका प्रयोग हुआ है, जैसे—विश्वरूप नजदीक होनेसे अर्जुनने अठारहवें, उन्नीसवें आदि श्लोकोंमें 'इदम्' शब्दका, भीष्म, द्रोण आदि विराटरूप भगवान्के अत्यन्त नजदीक होनेसे अर्थात् विराटरूप का ही अङ्ग होनेसे भगवान्ने तैतीसवें श्लोकमें 'एतत्' शब्दका, भगवान्की दी हुई दिव्यदृष्टिसे विराटरूप बहुत दूरतक दीगता था और उसमें देवता आदि भी दूरतक दीप्तते थे, इस वास्ते अर्जुनने इक्कीसवें, उन्नीसवें और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अदस्' शब्दका, और विराटरूपके पहले स्तरमें देगा हुआ चतुर्भुज विष्णुरूप विराटरूपके स्तर बदलनेके कारण वह रूप नेत्रों सामने न होनेसे अर्थात् परोक्ष होनेसे अर्जुनने 'तत्' किया है ।

व्याख्या—

‘किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव’—

जिसमें आपने सिरपर दिव्य मुकुट तथा हाथोंमें गदा और चक्र धारण कर रखे हैं, उसी रूपको मैं देखना चाहता हूँ ।

‘तथैव’ कहनेका तात्पर्य है कि मेरे द्वारा ‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्’ ( ११ । ३ ) ऐसी इच्छा प्रकट करनेसे आपने विराटरूप दिखाया । अब मैं अपनी इच्छा वाक्यी क्यों रखूँ ? इस वास्ते मैंने आपके विराटरूपमें जैसा सौम्य चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा-का-वैसा ही रूप मैं अब देखना चाहता हूँ—‘इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव’ ।

‘तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते’—पन्द्रहवें और सत्रहवें श्लोकमें जिस विराटरूपमें चतुर्भुज विष्णुरूपको देखा था, उस विराटरूपका निषेध करनेके लिये अर्जुन यहाँ ‘एव’ पद देते हैं । तात्पर्य यह है कि ‘तेन चतुर्भुजेन रूपेण’—ये पद तो चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये आये हैं और ‘एव’ पद ‘विराटरूपके साथ नहीं’—ऐसा निषेध करनेके लिये आया है तथा ‘भव’ पद ‘हो जाइये’—ऐसी प्रार्थनाके लिये आया है ।

पिछले श्लोकमें ‘तदेव’ तथा यहाँ ‘तथैव’ और ‘तेनैव’—तीनों पदोंका तात्पर्य है कि अर्जुन विश्वरूपसे बहुत डर गये थे । इस वास्ते तीन बार ‘एव’ शब्दका प्रयोग करके भगवान्से कहते हैं कि मैं आपका केवल विष्णुरूप ही देखना चाहता हूँ; विष्णुरूपके साथ विश्वरूप नहीं । इस वास्ते आप केवल चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो जाइये ।

विश्वरूप-दर्शन की इच्छा हुई आर मने दिव्यचक्षु देकर तुम्हें विश्वरूप दिखाया। यह तो मेरी कोरी प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता है। तात्पर्य है कि इस विश्वरूपको दिखानेमें मेरी कृपाके सिवाय दूसरा कोई हेतु नहीं है। तेरी देखनेकी इच्छा तो निमित्तमात्र है।

‘आत्मयोगात्’—इस विराटरूपको दिखानेमें मैंने किसीकी सहायता नहीं की, प्रयुक्त केवल अपनी सामर्थ्यसे ही तेरेको यह रूप दिखाया है।

परन्तु—मेरा यह विराटरूप अत्यन्त श्रेष्ठ है।

तेजोमयम्—यह मेरा विश्वरूप अत्यन्त तेजोमय है। इस रूपके मिलनेपर भी तुमने इस रूपको दुर्निरीक्ष्य कहा है।

यह रूपको तुमने स्वयं विश्वरूप, विश्वमूर्ते आदि । मेरा यह रूप सर्वग्यापी है।

इस विश्वरूपका देश, काल आदिकी । ही है। यह समस्त आदि है और

तुम्हारे सिवाय मेरे विश्व-

—यह बात भगवान् ने

—भगवान् ने ओर कृष्णावतारमें

द्रोण, सजय, विदुर और

या ! इसका उत्तर

(११।४८)

विश्वरूप तेरेको दिखाया है । यह विश्वरूप तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है ।

व्याख्या—

‘मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं दर्शितम्’—हे अर्जुन ! तू बार-बार यह कह रहा है कि आप प्रसन्न हो जाओ ( ११ । २५, ३१, ४५ ), तो प्यारे भैया ! मैंने जो यह त्रिराटरूप तेरेको दिखाया है, उसमें विकरालरूपको देखकर तू भयभीत हो गया है, पर यह विकरालरूप मैंने क्रोधमें आकर या तेरेको भयभीत करनेके लिये नहीं दिखाया है । मैंने अपनी प्रसन्नतासे ही यह त्रिराटरूप तेरेको दिखाया है । इसमें तेरी कोई योग्यता, पात्रता अथवा भक्ति कारण नहीं है । तुमने तो पहले केवल विभूति और योगको ही पूछा था । विभूति और योगका वर्णन करके मैंने अन्तमें कहा था कि तेरेको जहाँ-कहीं जो कुछ विलक्षणता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरी ही विभूति समझ । इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर सम्यक् प्रकारसे मैंने दे ही दिया था । परन्तु वहाँ मैंने ‘अथवा’ पदसे अपनी ही तरफसे यह बात कही कि तेरेको बहुत जाननेसे क्या मतलब ? देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ संसार आता है, उस सम्पूर्ण संसारको मैं अपने किसी अंशमें धारण करके स्थित हूँ । दूसरा भाव यह है कि तेरेको मेरी विभूति और योगशक्तिको जाननेकी क्या जरूरत है ? क्योंकि सब विभूतियाँ मेरी योगशक्तिके आश्रित हैं और उस योगशक्तिका आश्रय मैं स्वयं तेरे सामने बैठा हूँ । यह बात तो मैंने विशेष कृपा करके ही कही थी । इस बातको लेकर ही तुम्हारी

विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा हुई और मने दिव्यचक्षु देकर तुम्हें विश्वरूप दिखाया । यह तो मेरी कोरी प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता है । तात्पर्य है कि इस विश्वरूपको दिखानेमें मेरी कृपाके मियाय दूसरा कोई हेतु नहीं है । तेरी देखनेकी इच्छा तो निमित्तमात्र है ।

‘आत्मयोगात्’—इस विराटरूपको दिखानेमें मैंने किसीकी सहायता नहीं की, प्रयुक्त केवल अपनी सामर्थ्यसे ही तेरेको यह रूप दिखाया है ।

‘परन्’—मेरा यह विराटरूप अयन्त श्रेष्ठ है ।

‘तेजोमयम्’—यह मेरा विश्वरूप अयन्त तेजोमय है । इस अस्त्र दिव्यदृष्टि मिलनेपर भी तुमने इस रूपको दुर्निरीक्ष्य कहा है ( ११ । १७ ) ।

‘विश्वम्’—इस रूपको तुमने स्वयं विश्वरूप, विश्वमूर्ते आदि नामोंसे सम्प्रोक्त किया है । मेरा यह रूप सर्वग्यापी है ।

‘अनन्तमाद्यम्’—मेरे इस विश्वरूपका देश, काल आदिकी दृष्टिसे न तो आदि है और न अन्त ही है । यह सत्रका आदि है और स्वयं अनादि है ।

‘यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्’—तुम्हारे मियाय मेरे विश्वरूपको पहले किसीने भी नहीं देखा—यह बात भगवान्ने कैसे कही ? क्योंकि रामानुजतारमें माता कौसल्याजीने और कृष्णावतारमें माता यशोदाजीने तथा कारुण्यसभामें भीष्म, द्रोण, सजय, विदुर और ऋषि-मुनियोने भगवान्का विराटरूप देखा ही था । इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने अपने विराटरूपके त्रिये ‘पर्वरूपः’ ( ११ । १८ )

पद देकर कहा है कि इस प्रकारके भयंकर विश्वरूपको, जिसके मुग्धोंमें वड़े-वड़े योद्धा, सेनापति आदि जा रहे हैं, पहले किसीने नहीं देखा है।

दूसरी बात, अर्जुनके सामने युद्धका मौका होनेसे ऐसा भयंकर विश्वरूप दिखानेकी ही आवश्यकता थी और शूरावीर अर्जुन ही ऐसे रूपको देख सकते थे। परन्तु माता कौशल्या आदिके सामने ऐसा रूप दिखानेकी आवश्यकता भी नहीं थी और वे ऐसा रूप देख भी नहीं सकते थे अर्थात् उनमें ऐसा रूप देखनेकी सामर्थ्य नहीं थी।

भगवान् ने यह तो कहा है कि इस विश्वरूपको पहले किसीने नहीं देखा, पर वर्तमानमें कोई नहीं देख रहा है—ऐसा नहीं कहा है। कारण कि अर्जुनके साथ-साथ संजय भी भगवान् के विश्वरूपको देख रहे हैं। अगर संजय न देखते तो वे गीताके अन्तमें यह कैसे कह सकते थे कि भगवान् के अति अद्भुत रूपका बार-बार स्मरण करके मेरेको बड़ा भारी विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ\*।

### भगवत्कृपा-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान् के द्वारा 'मैंने अपनी प्रसन्नतासे, कृपासे ही तेरेको यह विश्वरूप दिखाया है'—ऐसा कहनेसे एक विलक्षण भाव निकलता

\* तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

( गीता १८ । ७७ )

है कि साधक अपनेपर भगवान्की जितनी कृपा मानता है, उससे कई गुना अधिक भगवान्की कृपा होनी है । भगवान्की जितनी कृपा होती है, उसको माननेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है । कारण कि भगवान्की कृपा अपार-असीम है; और उसको माननेकी सामर्थ्य सीमित है ।

साधक प्रायः अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें भगवान्की कृपा मान लेता है अर्थात् सत्सङ्ग मिलता है, साधन ठीक चलता है, वृत्तियाँ ठीक हैं, मन भगवान्में ठीक लग रहा है आदिमें वह भगवान्की कृपा मान लेता है । इस प्रकार केवल अनुकूलतामें ही कृपा मानना कृपाको सीमामें बाँधना है, जिससे असीम कृपाका अनुभव नहीं होता । उस कृपामें ही राजी होना कृपाका भोग है । साधकको चाहिये कि वह न तो कृपाको सीमामें बाँधे और न कृपाका भोग ही करे ।

साधन बननेमें जो सुख होता है, उस सुखमें सुखी होना, राजी होना भी भोग है, जिससे बन्धन होता है—‘सुखसङ्गेन बन्धाति ज्ञानसङ्गेन चानघ’ (गीता १४ । ६) । सुख होना अथवा सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रयुक्त उसके साथ सङ्ग करना, सुखी होना, प्रसन्न होना ही दोषी है । इससे अर्थात् साधनजन्य सात्त्विक सुख भोगनेसे गुणातीत होनेमें बाधा लगती है । इस वास्ते साधकको बड़ी सावधानीसे इस सुखसे असङ्ग होना चाहिये । जो साधक इस सुखसे असङ्ग नहीं होता अर्थात् उसमें प्रसन्नतापूर्वक सुख लेता रहता है, वह भी यदि अपनी साधनामें तत्परतापूर्वक लगा रहे, तो समय पाकर



पद देकर कहा है कि इस प्रकारके भयंकर विश्वरूपको, जिसके मुखोंमें बड़े-बड़े योद्धा, सेनापति आदि जा रहे हैं, पहले किसीने नहीं देखा है।

दूसरी रात, अर्जुनके सामने युद्धका मौका होनेसे ऐसा भयंकर विश्वरूप दिखानेकी ही आवश्यकता थी और शूरावीर अर्जुन ही ऐसे रूपको देख सकते थे। परन्तु माता कौशल्या आदिके सामने ऐसा रूप दिखानेकी आवश्यकता भी नहीं थी और वे ऐसा रूप देख भी नहीं सकते थे अर्थात् उनमें ऐसा रूप देखनेकी सामर्थ्य नहीं थी।

भगवान् ने यह तो कहा है कि इस विश्वरूपको पहले किसीने नहीं देखा, पर वर्तमानमें कोई नहीं देख रहा है—ऐसा नहीं कहा है। कारण कि अर्जुनके साथ-साथ संजय भी भगवान् के विश्वरूपको देख रहे हैं। अगर संजय न देखते तो वे गीताके अन्तमें यह कैसे कह सकते थे कि भगवान् के अति अद्भुत रूपका वार-वार स्मरण करके मेरेको बड़ा भारी विस्मय हो रहा है और मैं वार-वार हर्षित हो रहा हूँ\*।

### भगवत्कृपा-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान् के द्वारा 'मैंने अपनी प्रसन्नतासे, कृपासे ही तेरेको यह विश्वरूप दिखाया है'—ऐसा कहनेसे एक विलक्षण भाव निकलता

\* तच्च संसृष्टं

रूपमत्यद्भुतं हरैः ।

विन्मनो

दृश्यानि च पुनः पुनः ॥

( गीता १८ । ७७ )

‘न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः’—  
 मनुष्य-शरीरमें वेदोंका अध्ययन किया जाय, यज्ञोंका विधि विधानसे  
 अनुष्ठान किया जाय, बड़े-बड़े दान किये जायँ, घड़ी उग्र ( कठिन-  
 से कठिन ) तपस्याएँ की जायँ और तीर्थ, व्रत आदि शुभ-कर्म किये  
 जायँ—ये सब के-सब कर्म विश्वरूपदर्शनमें हेतु नहीं बन सकते ।  
 कारण कि जितने भी कर्म किये जाते हैं, उन सबका आरम्भ और  
 समाप्ति होती है । इस रास्ते उन कर्मसे मिलनेवाला ‘फल भी आदि  
 ओर अन्तवाला ही होता है । अतः ऐसे कर्मोंसे भगवान्के अनन्त,  
 असीम, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन कैसे हो सकते हैं ? उसके  
 दर्शन के केवल भगवान्की कृपासे ही होते हैं । कारण कि भगवान्  
 नित्य हैं और उनकी कृपा भी नित्य है । अतः नित्य कृपासे ही  
 अर्जुनको भगवान्के नित्य, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन हुए हैं ।  
 तात्पर्य यह हुआ कि उनमेंसे एक-एकमें अथवा सभी साधनोंमें यह  
 सामर्थ्य नहीं है कि वे विश्वरूपके दर्शन करा दें । विश्वरूपके दर्शन  
 तो केवल भगवान्की कृपासे, प्रसन्नतासे ही हो सकते हैं ।

गीतामें प्रायः यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंका ही वर्णन आता  
 है । आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें और इसी अध्यायके निरपनवें  
 श्लोकमें वेद, यज्ञ, दान और तप—इन चारोंका वर्णन आया है और  
 यहाँ वेद, यज्ञ, दान, तप और क्रिया—इन पाँचोंका वर्णन आया  
 है । आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें सप्तमी विभक्ति और बहुवचन  
 तथा यहाँके श्लोकमें तृतीया विभक्ति और बहुवचनका प्रयोग हुआ है,  
 जबकि दूसरी जगह प्रायः प्रथमा विभक्ति और एकवचनका प्रयोग  
 आता है ।

यहाँ तृतीया विभक्ति और बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि इन वेद, यज्ञ, दान आदि साधनोंमेंसे एक-एक साधन विशेषतासे बहुत बार किया जाय अथवा सभी साधन विशेषतासे बहुत बार किये जायँ, तो भी वे सत्र-के-सत्र साधन विश्वरूपदर्शनके कारण नहीं बन सकते अर्थात् इनके द्वारा विश्वरूप नहीं देखा जा सकता । कारण कि विश्वरूपका दर्शन करना किसी कर्मका फल नहीं है ।

जैसे यहाँ वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे विश्वरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर विश्वरूपदर्शनकी दुर्लभता बताया है, ऐसे ही आगे तिरपनवें श्लोकमें वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे चतुर्भुजरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर चतुर्भुजरूप-दर्शनकी दुर्लभता बताया है । चतुर्भुजरूपको देखनेमें अनन्यभक्तिको साधन बताया है (११।५६); क्योंकि वह रूप ऐसा विलक्षण है कि उसका दर्शन देवता भी चाहते हैं । इस वास्ते उस रूपमें भक्ति हो सकती है । परन्तु विश्वरूपको देखकर तो भय लगता है, ऐसे रूपमें भक्ति कैसे होगी, प्रेम कैसे होगा ? इस वास्ते इसके दर्शनमें भक्तिको साधन नहीं बताया है । यह तो केवल भगवान्की प्रसन्नतासे, कृपासे ही देखा जा सकता है ।

‘एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन’—  
इन साधनोंसे तुम्हारे सिवाय मेरा विश्वरूप कोई देख नहीं सकता—इसका अर्थ यह नहीं है कि इन साधनोंसे तू देख सकता है । तुम्हारेको मैंने अपनी प्रसन्नतासे ही यह रूप दिखाया है ।

संजयको भी जो विश्वरूपके दर्शन हो रहे थे, वह भी व्यासजीकी कृपासे प्राप्त दिव्यदृष्टिसे ही हो रहे थे, किसी दूसरे साधनसे नहीं। तात्पर्य है कि भगवान् और उनके भक्तों, सन्तोंकी कृपासे जो काम होता है, वह काम साधनोंसे नहीं होता। इनकी कृपा भी अहेतुकी होती है।

सम्बन्ध—

अर्जुनका भय दूर करनेके लिये भगवान् अगले श्लोकमें उनकी 'देवरूप' देखनेकी आज्ञा देते हैं।

श्लोक—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो  
 दृष्ट्वा रूपं घोरमादृच्छामेदम् ।  
 व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्यं  
 तदेव मे रूपमिदं प्रपद्य ॥ ४९ ॥

अर्थ—

यह इस प्रकारका मेरा घोररूप देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये। अब निर्भय और प्रसन्न मनवाला होकर तू फिर उसी मेरे इस (चतुर्भुज) रूपको अच्छी तरह देख ले।

व्याख्या—

'मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमादृच्छामेदम्'—  
 त्रिकाल दाढ़ोंके कारण भयभीत करनेवाले मेरे मुखोंमें योद्दालोग  
 बड़ी तेजीसे जा रहे हैं, उनमेंसे कई चूर्ण हुए सिरोंसहित दाँतोंके  
 बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं और मैं प्रलयकालकी अग्नि—गान—

प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोगोंका प्रसन करते हुए उनको चारों ओरसे चाट रहा हूँ—इस प्रकारके मेरे घोर रूपको देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत प्रसन्नता होनी चाहिये । तात्पर्य है कि पहले ( ११ । ४५ में ) तू जो मेरी कृपाको देखकर हर्षित हुआ था, तो मेरी कृपाकी तरफ दृष्टि होनेसे तेरा हर्षित होना ठीक ही था, पर यह व्यथित होना ठीक नहीं है ।

अर्जुनने जो पहले कहा है—‘प्रव्यथित थाहम्’ ( ११ । २३ ) और ‘प्रव्यथितान्तरात्मा’ ( ११ । २४ ) । उसीके उत्तरमें भगवान् यहाँ कहते हैं—‘मा ते व्यथा’ ।

मैं कृपा करके ही ऐसा रूप दिखा रहा हूँ । इसको देखकर तेरेको मोहित नहीं होना चाहिये—‘मा च विमूढभ ॥’ । दूसरी बात, मैं तो प्रसन्न ही हूँ और अपनी प्रसन्नतासे ही तेरेको यह रूप दिखा रहा हूँ; परन्तु तू जो बार-बार यह कह रहा है कि ‘प्रसन्न हो जाओ । प्रसन्न हो जाओ’ यही तेरा विमूढभाव है । तू इसको छोड़ दे । तीसरी बात, पहले तुमने कहा था कि मेरा मोह चला गया ( ११ । १ ), पर वास्तवमें तेरा मोह अभी नहीं गया है । तेरेको इस मोहको छोड़ देना चाहिये और निर्भय तथा प्रसन्न मनवाला होकर मेरा वह देवरूप देखना चाहिये ।

तेरा और मेरा जो संवाद है, यह तो प्रसन्नतासे, आनन्दरूपसे, लीलारूपसे होना चाहिये । इसमें भय और मोह बिल्कुल नहीं होना चाहिये । मैं तेरे कहे अनुसार षोड़े हाँकता हूँ, बातें करता हूँ, विश्वरूप दिखाता हूँ, चतुर्भुजरूप दिखाता हूँ आदि सब कुछ करने-

पर भी तूने मेरेमें कोई विकृति देखी है क्या ?\* मेरेमें कुछ अंतर आया क्या ? ऐसे ही मेरे विश्वरूपको देखकर तेरेमें भी कोई विकृति नहीं आनी चाहिये ।

हे अर्जुन ! तेरेको जो भय लग रहा है, वह शरीरमें अहंता-ममता ( मै-मेरापन ) होनेसे ही लग रहा है अर्थात् अहंता-ममता-वाली चीज ( शरीर ) नष्ट न हो जाय, इसको लेकर तू भयभीत हो रहा है—यह तेरी मूर्खता है, अनजानपना है । इसको तू छोड़ दे । आज भी जिस-किसीको जहाँ-वहाँ जिस-किसीसे भी भय होता है, वह शरीरमें अहंता-ममता होनेसे ही होता है । शरीरमें अहंता-ममता होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु- ( प्राणों- ) को रखना चाहता है । यही प्राणीकी मूर्खता है और यही आसुरी-सम्पत्तिका मूल है । परन्तु जो भगवान्की तरफ चलनेवाले हैं, उनका प्राणोंमें मोह नहीं रहता, प्रत्युत उनका सर्वत्र भगवद्भाव रहता है और एतन्मात्र भगवान्में प्रेम रहता है । इस वास्ते वे अभय हो जाते हैं । उनका भगवान्की तरफ चलना दैवी-सम्पत्तिका मूल है । नृसिंहभगवान्के भयंकर रूपको देखकर देवता आदि सभी डर गये, पर प्रह्लादजी नहीं डरे; क्योंकि प्रह्लादजीकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि थी । इस वास्ते वे नृसिंह-भगवान्के पास जाकर उनके चरणोंमें गिर गये और भगवान्ने उनको उठाकर गोदमें ले लिया तथा उनको जीभसे चाटने लगे !

● अपनेमें कई तरहका परिवर्तन देखनेपर भी अर्जुन सब अवस्थाओंमें भगवान्को निर्विकार ही मानते हैं, तभी तो उन्होंने गीताके आदि, मध्य तथा अन्तमें ( गीता १ । २१, ११ । ४० और १ । १३ में ) भगवान्के लिये 'अच्युत' सम्बोधनका प्रयोग कि

‘व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं श्य’— अर्जुनने पैतालीसवें श्लोकमें कहा था कि ‘भयेन च प्रव्यथितं मनो मे’ अतः भगवान्ने ‘भयेन’ के लिये कहा है—‘व्यपेतभीः’ अर्थात् तू भयरहित हो जा और ‘प्रव्यथितं’ के लिये कहा है—

‘प्रीतमनाः’ अर्थात् तू प्रसन्न मनवाला हो जा ।

भगवान्ने विराटरूपमें अर्जुनको जो चतुर्भुजरूप दिखाया था, उसीके लिये भगवान् ‘पुनः’ पद देकर कह रहे हैं कि वही मेरा रूप तू अच्छी तरहसे देख ले ।

‘तदेव’ कहनेका तात्पर्य है कि तू देवरूप- ( विष्णुरूप- ) के अथ ब्रह्मा, शंकर आदि देवता और भयानक विश्वरूप नहीं देखना चाहता, केवल देवरूप ही देखना चाहता है; इस वास्ते वही रूप तू अच्छी तरहसे देख ले ।

अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान् अभी जो रूप दिखाना चाहते हैं, उसके लिये भगवान्ने यहाँ ‘इद्म्’ शब्दका प्रयोग किया है ।

**संजय और अर्जुनकी दिव्यदृष्टि कबतक रही ?**

संजयको वेदव्यासजीने युद्धके आरम्भमें दिव्यदृष्टि दी थी,\* जिससे वे धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार सुनाते रहे । परन्तु अन्तमें

\* एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति । . .

एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति ॥

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः ।

कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति ॥

( महा० भीष्म० २ । ९-१० )

जब दुर्योधन की मृत्यु पर सत्रय शोकमें बहते हैं तब वे कहते हैं—  
 वह दिव्यदृष्टि चली गयी\* ।

अर्जुनके द्वारा दिव्यरूप दिग्गजेशं प्रदर्शन करने पर  
 अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी—‘दिव्यं दृशामि ते चतुर्भुजं शरणा-  
 म्बुधरम्’ (११।८) और अर्जुन विस्मयपूर्वक रूपसे  
 उपास्य आदि रूपोंके दर्शन करने लगे । जब अर्जुनके चतुर्भुज  
 रूप आया तो वे डर गये और भागान्त्री मूर्ति-प्रदर्शन करने शुरू  
 करने लगे कि ‘मेरा मन भयसे व्यथित हो रहा है, अब मैंने क्या  
 चतुर्भुजरूप दिखाइये ।’ तब भागान्त्रे अपना चतुर्भुज रूप दिग्गज  
 और फिर द्विभुजरूपमें ही गये । इससे निश्चय होना है कि यहाँ  
 (उन्नासर्वे श्येक) नरु ही अर्जुनकी दिव्यदृष्टि रही । इत्यन्तमें  
 श्येकमें श्रुत्यं अर्जुनने कहा है कि मैं आपके सौम्य मनुष्यरूपको  
 देखकर सचेत हो गया हूँ और अपनी व्यापारिक स्थितिसे प्राप्त हो  
 गया हूँ ।

यहाँ कहा है कि अर्जुन तो पहले भी व्यथित  
 (व्याकुल) हुए थे—‘इन्द्र उवाच प्रव्यधिनास्तथाहम्’  
 (११।२३) : ‘इन्द्र द्विःशं प्रव्यधितान्तरागमा’ (११।२४) :  
 अतः वहाँ उन्नासर्वे दिव्यदृष्टि चली गयी कहिये थी ! इसका समाधान  
 यह है कि वहाँ अर्जुन इनके मर-मृत नहीं हुए थे, जिनने यहाँ हुए  
 हैं । पहाँ तो अर्जुन मर-मृत होकर मर-मृतों वर-वार नमस्कार करते

४ तब पुत्रों को न्याय शोकात्म्य ममानव ।  
 श्रुतिदत्तं प्रकृतम् दिव्यदृष्टिन्वमय वै ॥  
 ( भा. ११. २३ )



हैं और उनसे चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना भी करते हैं ( ११ । ४५ ) । इस वास्ते यहाँ अर्जुनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है ।

दूसरा कारण यह भी माना जा सकता है कि पहले अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी विशेष रुचि ( इच्छा ) थी -- 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' ( ११ । ३ ) ; इस वास्ते भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी, परन्तु यहाँ अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी रुचि नहीं रही और वे भयभीत होनेके कारण चतुर्भुजरूप देखनेकी इच्छा करते हैं, इस वास्ते ( दिव्यदृष्टिकी आवश्यकता न रहनेसे ) उनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है ।

अगर मंजय और अर्जुन शोकसे, भयसे व्यथित ( व्याकुल ) न होते, तो उनकी दिव्यदृष्टि बहुत समयतक रहती और वे बहुत कुछ देख लेते । परन्तु शोक और भयसे व्यथित होनेके कारण उनकी दिव्यदृष्टि चली गयी । इसी तरहसे जब मनुष्य मोहसे संसारमें आसक्त हो जाता है तो भगवान्की दी हुई विवेकदृष्टि काम नहीं करती । जैसे, मनुष्यका रूपोंमें अधिक मोह होता है तो वह चोरी करने लग जाता है, फिर और मोह बढ़नेपर वह डकैती करने लग जाता तथा अत्यधिक मोह बढ़ जानेपर वह रूपोंके लिये दूसरेकी हत्यातक कर देता है । इस प्रकार ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है; त्यों-ही-त्यों उसका विवेक काम नहीं करता । अगर मनुष्य मोहमें न फँसकर अपनी विवेकदृष्टिको महत्त्व देता, तो वह अपना उद्धार करके संसारमात्रका उद्धार करनेवाला बन जाता ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको जिस रूपको देखनेके लिये आज्ञा दी, उसीके अनुसार भगवान् अपना विष्णुरूप दिखाते हैं—  
इसका वर्णन संजय अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा  
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्थ—

संजय कहते हैं—वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ऐसा कहकर फिर उसी प्रकारसे अपना रूप ( देवरूप ) दिखाया और महात्मा श्रीकृष्णने पुनः सौम्यवपु ( द्विभुजरूप ) होकर इस भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया ।

व्याख्या—

‘इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः’  
—अर्जुनने जब भगवान्से चतुर्भुजरूप होनेके लिये प्रार्थना की, तो भगवान्ने कहा कि मेरे इस विश्वरूपको देखकर तू व्यथित और भयभीत मत हो । तू प्रसन्न मनवाला होकर मेरे इस रूपको देख ( ११ । ४९ ) । भगवान्के इसी कथनको संजयने यहाँ ‘भूत्वा पुनः’ वासुदेवस्तथोक्त्वा’ पदोंसे कहा है ।

‘तथा’ कहनेका तात्पर्य है कि जिस प्रकार

भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाया था, उसी

होकर भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान्की कृपा-ही-कृपा है ।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-( चतुर्भुजरूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था ( ११ । १५, १७ ) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी ( ११ । ४५-४६ ), वही रूप भगवान्ने फिर दिखाया ।

‘आश्च यामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा’— भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप ( मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखकर भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिससे मनुष्य भगवान्के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे । वह सदाके लिये संसारबन्धनसे छूट जाय ।

अर्जुनपर भगवान्की प्रितनी अद्भुत कृपा है, जिससे भगवान्ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देयरूप ( चतुर्भुजरूप ) दिखाया और फिर मानुषरूप ( द्विभुजरूप ) हो गये । इसके साथ-साथ भगवान्ने हम लोगोंपर भी प्रितनी अलौकिक, प्रिलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहीं जिस प्रिसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वहीं हम भगवान्का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्के विश्वरूपका पटन-पाटन, चिन्तन कर सकते हैं । इस भयकर समयमें हमें भगवान्की विभूतियो तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिना जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रयुक्त भगवान्की कृपा ही कारण है । भगवान्की इस कृपाको दखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये । इन विभूतियोको सुनने और विश्वरूपक प्रिन्न-स्मरणका मौका तो उस समय भी सजय आदि बहुत थोड़े लोगोको ही मिला था । नहीं मौका आज हमें प्राप्त हुआ है । इस वास्ते हमें ऐसे मौकेको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये ।

सम्बन्ध—

भगवान् मनुष्यरूप होकर जन अर्जुनको आश्वासन दिया,  
तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वा मानुष रूप तव सोम्य जनार्दन ।  
इदानीमस्मि सबृत्त सचेता प्रकृति गत ॥ ५१ ॥

अथ—

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य

होकर भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान्की कृपा-ही-कृपा है ।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-( चतुर्भुजरूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था ( ११ । १५, १७ ) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी ( ११ । ४५-४६ ), वही रूप भगवान्ने फिर दिखाया ।

‘आइव यामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा’— भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप ( मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखकर भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिससे मनुष्य भगवान्के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे । वह सदाके लिये संसारबन्धनसे छूट जाय ।

अनुभव माननीय विरुद्धे अनुभव ही है, विलम्बे भगवान्ने पहले विश्वास-द्वारा, फिर वेदों (दर्शन) द्वारा और फिर मनुस्मृत्य (विद्वान्) हो गये। उनके सम्मुख भगवान्ने हम लोगों को भी विलम्बे अवैयक्त विद्वान् ही है कि जहाँ-जहाँ जिन विलम्बे विद्वान्ने तैयार हनरा मन चर चर, वही हम माननीय विद्वान्ने कर सकते हैं और भगवान्के विश्वासका पतन-पातन, विलम्बे कर सकते हैं। उन मंत्रों सामने हमें भगवान्की विमूर्तियों तथा विश्वासके विलम्बे आदिको जो नैयक नियम है, इसमें हनरा उद्योग, योग्यता करन नहीं है, प्रचुर भगवान्की वृत्त ही कारण है। भगवान्की उस वृत्तको देखकर हमें प्रयत्न हो जाना चाहिये। उन विमूर्तियोंको सुनने और विश्वासके विलम्बे-मरणका मौका तो उस समय भी सुन्य इति वृत्त यों-ही-छोड़ने ही नियम था। वही मौका अब हमें प्राप्त हुआ है। उन वृत्तोंमें हमें ऐसे मौकोंको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।

सुन्दर—

भगवान्ने मनुष्यत्वं हीकर जब अर्जुनका आश्वासन दिया,  
तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अहंन टषाष

दष्टेदं मानुषं रूपं तव मांभ्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि मंत्रुलः मन्त्रेताः प्रहृष्टाः गतः ॥ ५३ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस मांभ्य मानुषत्प ॥

होकर भगवान् ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान् की कृपा-ही-कृपा है ।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-( चतुर्भुजरूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था ( ११ । १५, १७ ) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी ( ११ । ४५-४६ ), वही रूप भगवान् ने फिर दिखाया ।

‘आश्च यामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा’— भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप ( मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखकर भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिससे मनुष्य भगवान् के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे । वह सदाके लिये संसारबन्धनसे छूट जाय ।

अर्जुनपर भगवान्की चित्तनी अद्भुत कृपा है, जिससे भगवान्ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देवरूप ( चतुर्भुजरूप ) दिखाया और फिर मानुषरूप ( द्विभुजरूप ) हो गये । इसके साथ-साथ भगवान्ने हम-लोगोपर भी चित्तनी अलौकिक, विलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहीं जिस किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वही हम भगवान्का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्के विश्वरूपका पटन-पाटन, चिन्तन कर सकते हैं । इस भयङ्कर समयमें हमें भगवान्की विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिका जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान्की कृपा ही कारण है । भगवान्की इस कृपाको देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये । इन विभूतियोंको सुनने और विश्वरूपके चिन्तन-स्मरणका मौका तो उस समय भी सजय आदि बहुत थोड़े लोगोंको ही मिला था । वही मौका आज हमें प्राप्त हुआ है । इस वास्ते हमें ऐसे मौकोंको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये ।

सम्बन्ध—

भगवान्ने मनुष्यरूप होकर जब अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संबुद्धः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मानुषरूपको



होकर भगवान् ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान् की कृपा-ही-कृपा है ।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-( चतुर्भुजरूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था ( ११ । १५, १७ ) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी ( ११ । ४५-४६ ), वही रूप भगवान् ने फिर दिखाया ।

‘आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा’— भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप ( मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये ओर उन्होंने विश्वरूपको देखकर भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिससे मनुष्य भगवान् के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे । वह सदाके लिये संसारबन्धनसे छूट जाय ।

अर्जुनपर भगवान्की त्रितनी अद्भुत कृपा है, जिससे भगवान्ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देवरूप ( चतुर्भुजरूप ) दिखाया और फिर मानुषरूप ( द्विभुजरूप ) हो गये । इसके साथ साथ भगवान्ने हम-लोगोपर भी त्रितनी अलोकिक, विलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहाँ जिस किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वही हम भगवान्की चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्के विश्वरूपका पटन-पाटन, चिन्तन कर सकते हैं । इस भयकर समयमें हमें भगवान्की विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिका जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान्की कृपा ही कारण है । भगवान्की इस कृपाको देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये । इन विभूतियोंको सुनने और विश्वरूपके चिन्तन-स्मरणका मौका तो उस समय भी सजय आदि बहुत थोड़े लोगोंको ही मिला था । वही मौका आज हमें प्राप्त हुआ है । इस वास्ते हमें ऐसे मौकोंको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये ।

सम्वन्ध—

भगवान्ने मनुष्यरूप होकर जब अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।  
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे जनार्दन । आपके इस

—पदों

होकर भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान्की कृपा-ही-कृपा है ।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-( चतुर्भुजरूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था ( ११ । १५, १७ ) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी ( ११ । ४५-४६ ), वही रूप भगवान्ने फिर दिखाया ।

‘आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा’— भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप ( मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखकर भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिससे मनुष्य भगवान्के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे । वह सदाके लिये संसारबन्धनसे छूट जाय ।

अर्जुनपर भगवान्की त्रितनी अद्भुत कृपा है, जिससे भगवान्ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देयरूप ( चतुर्भुजरूप ) दिखाया और फिर मानुषरूप ( द्विभुजरूप ) हो गये । इसके साथ साथ भगवान्ने हम-लोगोपर भी त्रितनी अलौकिक, मिलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहीं जिस किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वहीं हम भगवान्का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्के विश्वरूपका पटन-पाटन, चिन्तन कर सकते हैं । इस भयकर समयमें हमें भगवान्की विभूतियो तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिका जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान्की कृपा ही कारण है । भगवान्की इस कृपाको देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये । इन विभूतियोको सुनने और विश्वरूपके चिन्तन-स्मरणका मौका तो उस समय भी सजय आदि बहुत थोड़े लोगोको ही मिला था । वही मौका आज हमें प्राप्त हुआ है । इस वास्ते हमें ऐसे मौकेको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये ।

सम्बन्ध—

भगवान्ने मनुष्यरूप होकर जब अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वद्दं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संबृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मानुषरूपको

होकर भगवान् ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान् की कृपा-ही-कृपा है ।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-( चतुर्भुजरूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था ( ११ । १५, १७ ) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी ( ११ । ४५-४६ ), वही रूप भगवान् ने फिर दिखाया ।

‘आइव य च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा’— भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप ( मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखकर भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिससे मनुष्य भगवान् के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे । वह सदाके लिये संसारबन्धनसे छूट जाय ।

अर्जुन पण्डित की चिन्ती अद्भुत कृपा है, जिससे भगवान् ने पहले विश्वरूप दिखाना, कि देवर्ष्य ( चतुर्मुखाय ) दिखाने और फिर मनुष्यरूप ( द्विमुखाय ) हो गये । इसके साथ-साथ भगवान् ने देवर्ष्य भी चिन्ती अद्भुत चिन्ति कृपा की है कि उन्होंने जिस चिन्ती चिन्तन को लेकर हमारा मन चला जाय, उसे ही भगवान् चिन्तन पर मन्ते हैं और भगवान् के विश्वरूप को पाकर, चिन्तन कर सकते हैं । इस भयंकर समझ में हमें मनुष्य, विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिमा जो है, उसे ही समझ सकते हैं । हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रभु ही काय है । भगवान् की इस कृपा को देना ही हमें प्रसन्न होना चाहिये । इन विभूतियों को सुनने और विश्वरूपके चिन्तन ही निज मीमांसा तो उस समय भी सजय आदि बहुत थोड़े ही निज या । नहीं मीमांसा आज हमें प्राप्त हुआ है । इस कृपा में ऐसे मीमांसकों व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये ।

सम्बन्ध—

भगवान् ने मनुष्यरूप होकर जब अर्जुन को आराधन दिया,

तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्टुं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।  
इदानीमस्मि संवृत्त सचेता प्रकृति गत ॥ ५१ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले— हे जनार्दन ! आपने

रखते हैं । फिर उनको दर्शन क्यों नहीं होते । जबकि भगवान्‌के दर्शनकी नित्य लालसा रहना अनन्यभक्ति ही है । इसका समाधान यह है कि वास्तवमें देवताओंकी नित्य लालसा अनन्यभक्ति नहीं है ।

नित्य लालसा रखनेका तात्पर्य होता है कि नित्य-निरन्तर एक परमात्माकी ही लालसा लगी रहे और दूसरी कोई लालसा न रहे । ऐसी लालसावाला दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्‌का भक्त हो जाता है और उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है । परन्तु ऐसी अनन्य लालसा देवताओंकी नहीं होती; क्योंकि वे भोग भोगनेके लिये ही देवता बने हैं और उनका भोग भोगनेका ही उद्देश्य होता है । तो फिर उनकी लालसा कैसी होती है ? जैसी लालसा ( इच्छा ) प्रायः सभी आस्तिक मनुष्योंमें रहती है कि 'हमारेको भगवान्‌के दर्शन हो जायँ, हमारा कल्याण हो जाय ।' उनकी ऐसी इच्छा तो रहती है, पर भोग और संग्रहकी रुचि ज्यों-की-त्यों बनी रहती है । तात्पर्य है कि जैसे मार्गमें चलते हुए किसीको मणि मिल जाय, ऐसे ही गाँवतासे हमारी मुक्ति हो जाय तो अच्छी बात है\*—इस प्रकार जैसे मनुष्योंमें मुक्तिकी इच्छा गौण होती है, ऐसे ही भगवान् दर्शन दें तो हम भी दर्शन कर लें—इस प्रकार देवताओंमें दर्शनकी इच्छा गौण होती है ।

देवतालोग 'हम इतने ऊँचे पदपर हैं, हमारे लोक, शरीर और भोग दिव्य हैं, हम बड़े पुण्यशाली हैं; अतः हमें भगवान्‌के दर्शन होने चाहिये'—ऐसी कोरी इच्छा ही करते हैं, इसलिये उनको कभी दर्शन होंगे नहीं । कारण कि उनमें देवत्व, पद आदिका अभिमान है । अभिमानसे, पद आदिके बलसे भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते ।

\* मार्ग प्रपातो मणिलाभवन्चे लभेन्मोक्षो यदि तर्हि धन्यः ।

इस गस्ते अर्जुनने दसवें अध्यायके चोदहवें श्लोकमें कहा है कि 'हे भगवन् ! आपके प्रकट होनेतो देवता और दानव भी नहीं जानते ।' इस प्रकार अर्जुनने भगवान्को न जाननेमें देवताओं और दानवोंको एक श्रेणीमें लिया है । इसका तात्पर्य यही है कि जैसे देवताओंके पास वैभवं है, ऐसे ही दानवोंके पास विचित्र-विचित्र माया है, सिद्धियाँ हैं, पर उनके जलपर वे भगवान्को नहीं जान सकते । ऐसे ही देवता भगवान्के दर्शनकी लाठपा भी रक्खें, तो भी उनको देवत्व-शक्तिसे दर्शन नहीं हो सक्ते, क्योंकि भगवान्के दर्शनमें देवत्व कारण नहीं । तात्पर्य है कि भगवान्को न तो देवत्व शक्तिसे देखा जा सकता है और न यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मोंसे ही देखा जा सकता है ( ११ । ५३ ) । उनको तो अतन्यभक्तिसे ही देखा जा सकता है ( ११ । ५४ ) । अतन्यभक्तिसे देवता और मनुष्य—दोनो ही भगवान्को देख सकते हैं ।

वास्तवमें देवताओंकी लालसा भोग भोनेकी ही रहती है । वे रात दिन अपने पुण्यकर्मोंका फल भोगनेमें लगे रहने हैं अर्थात् भोगोंमें ही लिप्त रहते हैं । इस गस्ते उनके पास भगवान्को याद करनेके लिये वक्त ही नहीं है । वे तो केवल इच्छा ही करते रहते हैं, जिसकी कभी पूर्ति होनेवाली है ही नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि शुभ कर्मोंसे, षडसे, योग्यतासे, जलसे भगवान् नहीं मिलते । भगवान्के दर्शनमें यह प्राकृत महत्त्व कुछ भी मूल्य नहीं रखता ।

सम्यन्ध—

पूर्वश्लोकमें कही हुई बातको ही भगवान् अगले श्लोकमें पुष्ट करते हैं ।



श्लोक—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

अर्थ—

जिस प्रकार तुमने मेरेको देखा है, इस प्रकारका ( चतुर्भुज-रूपवाला ) मैं न तो वेदोंसे, न तपस्यासे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ।

व्याख्या—

‘दृष्टवानसि मां यथा’—तुमने मेरा चतुर्भुजरूप मेरी कृपासे ही देखा है । तात्पर्य है कि मेरे दर्शन मेरी कृपासे ही हो सकते हैं, किसी योग्यतासे नहीं ।

‘नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया शक्य एवंविधो द्रष्टुम्’—यह एक सिद्धान्तकी बात है कि जो चीज किसी मूल्यसे खरीदी जाती है, वह चीज उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है । जैसे, कोई दूकानदार एक घड़ी सौ रुपयेमें बेचता है, तो उसने वह घड़ी कम मूल्यमें ली है, तभी तो वह सौ रुपयेमें देता है । इसी तरह अनेक वेदोंका अध्ययन करनेपर, बहुत बड़ी तपस्या करनेपर, बहुत बड़ा दान देनेपर तथा बहुत बड़ा यज्ञ-अनुष्ठान करनेपर भगवान् मिळ जायँगे—ऐसी बात नहीं है । कितनी ही महान् क्रिया क्यों न हो, कितनी ही योग्यता सम्पन्न क्यों न की जाय, पर उसके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते । वे सब-के-सब मिलकर भी भगवत्प्राप्तिका मूल्य नहीं हो सकते । उनके द्वारा भगवान्पर अधिकार नहीं जमाया जा सकता

अर्जुनने इसी अध्यायके तैत्तलीसवें श्लोकमें साफ कहा है कि त्रिलोकी-में आपके समान भी कोई नहीं है फिर आपसे अधिक हो ही कैसे सकता है ? तात्पर्य है कि आपसे अधिक हुए बिना आपपर अधिकार नहीं किया जा सकता ।

सासारिक चीजोंमें तो अधिक योग्यतावाला कम योग्यतावालेपर अधिकार कर सकता है, अधिक बुद्धिमान् कम बुद्धिवालेपर अपना रोप जमा सकता है, अधिक धनवान् निर्धनोपर अपनी अधिकता प्रकट कर सकता है । परन्तु भगवान् किमी बल, बुद्धि, योग्यता, व्यक्ति, वस्तु आदिसे खरीदे नहीं जा सकते । कारण कि जिस भगवान्के सकल्पमात्रसे तत्काल अन्त ब्रह्माण्डोकी रचना हो जाती है, उसे एक ब्रह्माण्डके भी किसी अशमें रहनेवाले किसी वस्तु, व्यक्ति आदिसे कैसे खरीदा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि भगवान्की प्राप्ति केवल भगवान्की कृपासे ही होती है । वह कृपा तब प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य, समय, समझ, सामग्री आदिको भगवान्के सर्वथा समर्पित करके अपनेमें सर्वथा निर्बलता, अयोग्यताका अनुभव करता है अर्थात् उसमें अपने बल, योग्यता आदिका किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं रहता । इस प्रकार जब वह सर्वथा निर्बल होकर अपने आपको भगवान्के सर्वथा समर्पित करके अनन्यभाससे भगवान्को पुकारता है, तो भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं । कारण कि जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें प्राकृत वस्तु, योग्यता, गठ, बुद्धि आदिका महारव और सहारा रहता है, तबतक भगवान् अत्यन्त नजदीक होनेपर भी दूर दीवते हैं ।

इस श्लोकमें जो दुर्लभता बतायी गयी है, यह चतुर्भुजरूपके लिये ही बतायी गयी है, विश्वरूपके लिये नहीं। अगर इसको विश्वरूपके लिये ही मान लिया जाय तो पुनरुक्ति-दोष आ जायगा, क्योंकि पहले अड़तालीसवें श्लोकमें विश्वरूपकी दुर्लभता बतायी जा चुकी है। दूसरी बात, अगले श्लोकमें भगवान्ने अनन्यभक्तिसे अपनेको देखा जाना शक्य बताया है। विश्वरूपमें अनन्यभक्ति हो ही नहीं सकती; क्योंकि अर्जुन-जैसे शूरावीर भगवान्से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भी विश्वरूपको देखकर भयभीत हो गये, तो उस रूपमें अनन्यभक्ति, अनन्यप्रेम, आकर्षण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—

जब कोई किसी साधनसे, किसी योग्यतासे, किसी सामग्रीसे आपको प्राप्त नहीं कर सकता तो फिर आप कैसे प्राप्त किये जाते हैं ? इसका उत्तर भगवान् अगले श्लोकमें देते हैं।

श्लोक—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

अर्थ—

परंतु हे शत्रुतापन अर्जुन ! इस प्रकार ( चतुर्भुजरूपवाला ) मैं अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाननेमें, सगुणरूपसे देखनेमें और प्राप्त करनेमें शक्य हूँ।

व्याख्या—

‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन’—यहाँ ‘तु’ पद पहले बताये हुए साधनोंसे विलक्षण साधन बतानेके लिये आया

है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुमने मेरा जैसै रज्जु-  
गदा-पद्मगरी चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा रूपबला मैं स्व-  
तप आदिके द्वारा नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत अनन्यभक्ति  
ही देखा जा सकता हूँ।

अनन्यभक्तिका अर्थ है—केवल भगवान्का ही लक्ष्य हो-  
सहारा हो, आशा हो, निश्वास हो\*। भगवान्के निरपेक्ष  
योग्यता, उल, बुद्धि आदिका किञ्चिन्मात्र भी सहारा न हो।  
इनका अंत करणमे किञ्चिन्मात्र भी महत्त्व न हो। यह अनन्यभक्ति  
स्वयसे ही होती है, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदिके द्वारा नहीं। तत्पर्य है  
कि केवल स्वयकी व्याकुलतापूर्वक उत्पण्डा हो। भगवान्के दर्शन  
बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ऐसी जो भीतरमें स्वयकी बेचैनी  
है, वही भगवत्प्राप्तिमें खास कारण है। इस बेचैनीमें, व्याकुलतामें  
अनन्त जन्मोंके अनन्त पाप भस्म हो जाते हैं। ऐसी अनन्यभक्ति-  
वालोंके लिये ही भगवान्ने कहा है—‘जो अनन्यचित्तगण भक्त  
निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, उसके लिये मैं मुलम् हूँ’  
(गीता ८। १४), और ‘जो अनन्यभक्त मेरा चिन्तन करते हुए

● एक भरोसो एक बल एक आस विन्यास।

एक राम धन स्याम हित चातक कुञ्जीदास ॥

(दोहावली २७७)

एक बानि कहनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न धनकी ॥

(मानस ३। ९। ४)

उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम में वहन करता हूँ'  
( गीता ९ । २२ )

अनन्यभक्तिका दूसरा तात्पर्य यह है कि अपनेमें भजन-स्मरण करनेका, साधन करनेका, उत्कण्ठापूर्वक पुकारनेका जो कुछ सहारा है, वह सहारा किञ्चिन्मात्र भी न हो । फिर साधन किसलिये करना है ? केवल अपना अभिमान मिटानेके लिये अर्थात् अपनेमें जो करनेके बलका भान होता है, उसको मिटानेके लिये ही साधन करना है । तात्पर्य है कि भगवान्की प्राप्ति साधन करनेसे नहीं होती, प्रत्युत साधनका अभिमान गलनेसे होती है, साधनका अभिमान गल जानेसे साधकपर भगवान्की शुद्ध कृपा असर करती है अर्थात् उस कृपाके आनेमें कोई आड़ नहीं रहती और ( उस कृपासे ) भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।

‘ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुम्’—ऐसी अनन्यभक्तिसे ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा जा सकता हूँ और अनन्यभक्तिसे ही मैं प्राप्त किया जा सकता हूँ ।

ज्ञानके द्वारा भी भगवान् तत्त्वसे जाने जा सकते हैं और प्राप्त किये जा सकते हैं, पर दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं\* ।

‘ज्ञातुम्’ कहनेका तात्पर्य है कि मैं जैसा हूँ, वैसा-का-वैसा जाननेमें आ जाता हूँ । जाननेमें आनेका यह अर्थ नहीं है कि मैं

\* भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

उसकी बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता हूँ, प्रयुक्त उसकी जाननेकी शक्ति मेरेसे परिपूर्ण हो जाती है। तात्पर्य है कि वह मेरेको 'वासुदेव सर्वम्' (गीता ७ । १९) और 'सदसच्चाहम्' (गीता ९ । १९) —इस तरह नास्तिकिक तत्त्वसे जान लेता है।

'द्रष्टुम्' कहनेका तात्पर्य है कि वह सगुणरूपसे अर्थात् विष्णु, राम, कृष्ण आदि जिस किसी भी रूपसे देखना चाहे मेरेको देख सकता है।

'प्रवेष्टुम्' कहनेका तात्पर्य है कि वह भगवान्के साथ अपने-आपकी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है अथवा उसका भगवान्की नित्यलीलामें प्रवेश हो जाता है। नित्यलीलामें प्रवेश होनेमें भक्तकी इच्छा और भगवान्की मरजी ही मुख्य होती है। यद्यपि भगवान्के सर्वत्र शरण होनेपर भक्तकी सब इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथापि भगवान्की यह एक विशेषता है कि भक्तकी लीलामें प्रवेश होनेकी जो इच्छा रही है, उसको भगवान् पूरी कर देते हैं। केवल पारमार्थिक इच्छाको ही पूरी करते हों, ऐसी बात नहीं है, किन्तु भक्तकी पहले जो सांसारिक यत्किञ्चित् इच्छा रही हो, उसको भी भगवान् पूरी कर देते हैं। जैसे, भगवद्दर्शनसे पूर्वकी इच्छाके अनुसार धुनजीको छत्तीस हजार वर्षका राज्य मिला और विभीषणको एक स्वल्पका। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् भक्तकी इच्छाको पूरी कर देते हैं और फिर अपनी मरजीके अनुसार उसे नास्तिकिक

पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं, जिससे भक्तके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता ।

### विशेष बात

भक्तकी खुदकी जो उत्कट अभिलाषा है, उस अभिलाषामें ऐसी ताकत है कि वह भगवान्‌में भी भक्तसे मिलनेकी उत्कण्ठा पैदा कर देती है ! भगवान्‌की इस उत्कण्ठामें बाधा देनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं । अनन्त सामर्थ्यशाली भगवान्‌की जब भक्तकी तरफ कृपा उमड़ती है, तो वह कृपा भक्तके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करके, भक्तकी योग्यता-अयोग्यताको किञ्चिन्मात्र भी न देखती हुई भगवान्‌को भी परवश कर देती है, जिससे भगवान् भक्तके सामने तत्काल प्रकट हो जाते हैं ।

सम्बन्ध—

अब भगवान् अगले श्लोकमें अनन्यभक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।  
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

अर्थ—

हे पाण्डव ! जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मेरे ही परायण और मेरा ही भक्त है तथा सर्वथा आसक्तिरहित और प्राणिमात्रके साथ निर्वैर है, वह भक्त मेरेको प्राप्त हो जाता है ।

दूसरी बात, जब भक्त को 'धै' भगवान् का ही अंश है—इस वास्तविकताका अनुभव हो जाता है, तो उसका भगवान् में प्रेम जाग्रत हो जाता है। प्रेम जाग्रत होनेपर रागका अन्यन्त अभाव हो जाता है। रागका अत्यन्त अभाव होनेसे और सर्वत्र भगवान् द्वारा होनेसे\* उसके शरीरके मांस कोई कितना ही दुर्व्यवहार करे, उसको मारे पीटे, उसका अनिष्ट करे, तो भी उसके हृदयमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति किञ्चिन्मात्र भी वैरभाव उत्पन्न नहीं होता। वह उममें भगवान् की ही मरजी, कृपा मानता है। ऐसे भक्तकी भगवान् ने 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' कहा है।

'सङ्गवर्जितः' और 'निर्वैरः सर्वभूतेषु'—इन दोनोंका वर्णन करने का तात्पर्य 'उसका ससारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है' यह बतानेमें है। ससारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर रज्जु-सिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'स मामेति'—ऐसा वह मेरा भक्त मेरेको ही प्रिय हो जाता है। 'स मामेति' में तत्पर्य जानना, दर्शन करना और प्राप्त होना—ये तीनों ही बातें आ जाती हैं, जो कि पिछले (चरणों) श्लोकमें बताया गया है। तात्पर्य यह कि जिस उद्देश्यसे मनुष्यजन्म हुआ है वह उद्देश्य सर्वथा पूर्ण हो जाता है।

\* उमा जे राम चरन रत विगत काम मद क्रोध ।

निज प्रभुमय देखहि जगत नेहि सन करहि निरोध ॥

(मानस ७।११० ग)



श्रीभगवान् ने नवें अध्यायके अन्तमें कहा था—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ( ९ । ३४ ) । ऐसा कहनेपर भी भगवान् के मनमें यह बात रह गयी कि मैं अपने रहस्यकी सब बात किस तरहसे, किस रीतिसे समझाऊँ ? इसीको समझानेके लिये भगवान् ने दसवाँ और ग्यारहवाँ अध्याय कहा है ।

जीवने उत्पत्ति-विनाशशील और नित्य परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारका सहारा ले रखा है, जिससे यह अविनाशी और नित्य अपरिवर्तनशील भगवान् से विमुख हो रहा है । इस विमुखताको मिटाकर जीवको भगवान् के सम्मुख करनेमें ही इन दोनों अध्यायोंका तात्पर्य है ।

इस मनुष्यके पास दो शक्तियाँ हैं—चिन्तन करनेकी और देखनेकी । इनमेंसे जो चिन्तन करनेकी शक्ति है, उसको भगवान् की विभूतियोंमें लगाना है । तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो कुछ विशेषता, महत्ता, विलक्षणता, अलौकिकता दीखे और उसमें मन चला जाय, उस विशेषता आदिको भगवान् की ही मानकर वहाँ भगवान् का ही चिन्तन होना चाहिये । इसके लिये भगवान् ने दसवाँ अध्याय कहा है ।

दूसरी जो देखनेकी शक्ति है, उसको भगवान् में लगाना चाहिये । तात्पर्य है कि जैसे भगवान् के दिव्य अविनाशी विराटरूपमें

अनेक रूप हैं, अनेक आकृतियाँ हैं, अनेक तरहके दृश्य हैं, ऐसे ही यह ससार भी उस निराद्रूपका ही एक अङ्ग है और इसमें अनेक नाम, रूप, आकृति आदिके रूपमें परमात्मा ही परमात्मा परिपूर्ण है। इस दृष्टिसे सबको परमात्मस्वरूप देखे। इसके लिये भगवान् ने ग्यारहवाँ अध्याय कहा है।

अर्जुनने भी इन दोनो दृष्टियोंके लिये दो बार प्रार्थना की है। दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा कि 'हे भगवान् ! मैं क्लिप्त-क्लिप्त भावमें आपका चिन्तन करूँ ?' तो भगवान् ने चिन्तन-शक्तिको लगानेके लिये अपनी विभूतियोंका वर्णन किया। ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने कहा कि 'मैं आपके रूपको देखना चाहता हूँ, तो भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखाया और उसको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये।

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको अपनी चिन्तन और दर्शनशक्ति-को भगवान् के सिवाय दूसरी किसी भी जगह खर्च नहीं करनी चाहिये अर्थात् साधक चिन्तन करे तो परमात्माका ही चिन्तन करे और जिस किसीको देखे तो उसको परमात्मस्वरूप हो देवे।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो  
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषद्सु श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ११ ॥

अर्जुनने भगवान्से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भगवान्के जिस विश्वरूपके दर्शन किये थे, उसके वर्णनको पढ़-सुनकर भगवान्के प्रभावको मान लेनेसे भगवान्के साथ योग- ( सम्बन्ध- ) का अनुभव हो जाता है । इस वास्ते ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शन-योग' है ।

### ग्यारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

( १ ) इस अध्यायमें 'अथैकादशोऽध्यायः' के तीन, उवाचके बाईस, श्लोकोंके आठ सौ इक्यवन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग आठ सौ नवासी है ।

( २ ) 'अथैकादशोऽध्यायः' में सात, उवाचमें सत्तर, श्लोकोंमें दो हजार एक सौ तिरानवे और पुष्पिकामें पचास अक्षर हैं । इस तरह सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार तीन सौ बीस है । इस अध्यायके उन्नीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके, एक श्लोक तैंतीस अक्षरोंका और छत्तीस श्लोक चौवाळीस अक्षरोंके हैं ।

( ३ ) इस अध्यायमें ग्यारह उवाच हैं—चार 'अर्जुन उवाच', चार 'श्रीभगवानुवाच' और तीन 'संजय उवाच' ।

### ग्यारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके पचपन श्लोक हैं । उनमें उन्नीस श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दके, तीन श्लोक 'उपेन्द्रवज्रा' छन्दके और तैंतीस श्लोक 'उपजाति' छन्दके हैं ।

‘अनुष्टुप्’ छन्दवाले उन्नीस श्लोकोंमें पहले और पचासवेंमें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘भगवः’ प्रयुक्त होनेसे ‘न विष्णुः’, ‘मातृ’ और तिरपन्ने श्लोकके प्रथम चरणमें ‘न विष्णुः’ प्रयुक्त होनेसे ‘न विष्णुः’ और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘न विष्णुः’ प्रयुक्त होनेसे ‘सर्वाणि-विष्णुः’ छन्दके श्लोक हैं । ७१ श्लोक (२-०, १२-१७, २१-२२, २४) छन्दके ‘अनुष्टुप्’ छन्दके चक्षुषोमे युक्त हैं ।

शेष गौरीय श्लोकामे—  
 वैतलीस श्लोक ‘उपेन्द्रवक्रा तथा इन्द्र’ ( १-२०, २४, ४४, ४६-२२ ) श्लोक ठीक छन्दके श्लोक से युक्त हैं ।

## श्रीमद्भगवद्गीताकी आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।  
 हरि-हिय कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ॥  
 कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा ।  
 तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा ॥  
 निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।  
 शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी ॥ जय०  
 राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।  
 भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा ॥ जय०  
 आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी ।  
 दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥ जय०  
 समता त्याग सिखावनि, हरि-खकी वानी ।  
 सकल शास्त्रकी स्वाभिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥  
 दया-सुधा वरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।  
 हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥

